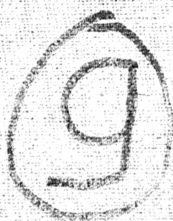
मनोविज्ञान
और शिक्षा



डॉ० पद्मा अग्रवाल
एम. ए., पीएच. डी.

मनोविज्ञान और शिक्षा

डॉ. पद्मा अग्रवाल
एम. ए., पीएच. डी.

प्रकाशक
मनोविज्ञान प्रकाशन
५६।२३ चौक, बनारस

जुलाई १९५४
मूल्य ३)

मुद्रक
ओम्प्रकाश कपूर
ज्ञानमण्डल यन्त्रालय, काशी, ४५६१-११

दो शब्द

'मनोविश्लेषण और मानसिक क्रियाएँ' तथा 'व्यावहारिक मनोविज्ञान' पुस्तकें लिखकर पाठकों के सम्मुख रखने का अवसर मुझे पहले ही प्राप्त हो चुका है। इन निबन्धों का साहित्य-प्रेमियों, विद्यार्थियों और सरकार ने समुचित सम्मान किया।

प्रस्तुत पुस्तक 'मनोविज्ञान और शिक्षा' मे मैंने यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि किस प्रकार मनोवैज्ञानिक सुझाव के आधार पर शिक्षा को आदर्श और वैज्ञानिक बनाया जा सकता है। शिक्षक को विद्यार्थी की मानसिक अवस्था का ज्ञान होना आवश्यक है। तभी विद्यार्थी की वृत्ति-संवेग का परिमार्जन करके उसमे आदर्श आचरण का निर्माण किया जा सकता है; बुद्धि का उपयुक्त विकास करके उसका आध्यात्मिक स्तर उठाया जा सकता है; और क्रियात्मक अवस्था का विकास करके उसे कार्य-कुशल बनाया जा सकता है। विद्यार्थी की भावात्मक, बोधात्मक और क्रियात्मक अवस्थाओं का विकास करना शिक्षा का मुख्य ध्येय है।

पुस्तक सरल और बोधगम्य भाषा मे है। आशा है मेरी अन्य कृतियों की तरह इसका भी उपयोग होगा।

पद्मा

विषय

पृष्ठ

१—परिचय ७-२५

मनोविज्ञान का क्षेत्र

शिक्षा का उद्देश्य और क्षेत्र

मनोविज्ञान का शिक्षा से सम्बन्ध

शिक्षा और प्रायोगिक मनोविज्ञान

२—मानसिक विकास २६-४५

मानसिक विकास के सिद्धान्त :

क्रमिक विकास-सिद्धान्त

सम विकास-सिद्धान्त

मानसिक विकास की अवस्थाएँ :

बाल्यावस्था

मध्यावस्था

किशोरावस्था

वंशानुक्रम और वातावरण

३—वृत्ति ४६-७१

वृत्ति के सिद्धान्त

भय और शिक्षा

विद्रोह, जिज्ञासा, आत्मप्रतिपादन,

आत्महीनता, समूह, काम और मातृ-वृत्ति

दमन

परिमार्जन

सामान्य प्रवृत्तियाँ :

अनुकरण, निर्देशन, खेल

४—संवेग ७२-८७

संवेग की विशेषताएँ
संवेग और शिक्षा
स्थायी भाव
आचरण-निर्माण
भावना-ग्रंथियाँ
व्यक्तित्व

५—संवेदन और प्रत्यक्षीकरण ८८-९४

इन्द्रिय विकास
दृश्य प्रत्यक्षीकरण का टैकिस्टोस्कोप द्वारा प्रयोग

६—ध्यान ९५-१०३

ध्यान की विशेषताएँ
रुचि
ध्यान जीतने की युक्तियाँ
ध्यान-विस्तार

७—स्मृति १०४-११३

स्मृति-अंग
स्मृति-विधि
संबंध-नियम :
साहचर्य-नियम
सादृश्य-नियम
वैपरीत्य-नियम
मानसिक प्रतिमा

८—सीखना १२४-१२५

सीखने के नियम :

अभ्यास-नियम

सुखानुभव-नियम

तत्परता-नियम

सीखने के प्रकार :

प्रयास और भूल

अन्तर्दृष्टि

अनुकरण

सीखने का पठार

शिक्षा कब प्रारंभ होवे

ज्ञानार्जन का परत्र उपयोग

९—मानसिक कार्य और थकान १२६-१३४

मन और शरीर मे संबंध

थकान

मानसिक थकान के लक्षण

लगातार कार्य का प्रभाव

मानसिक कार्य की प्रेरणा

१०—वैयक्तिक भेद १३५-१४२

पैतृक विशेषता

वातावरण

११—मन संबंधी परीक्षाएँ १४३-१५९

बुद्धि-परीक्षा :

बुद्धि की परिभाषा

बिने-सिद्धान्त
बिने-परीक्षा के दोष
टर्मन-सिद्धान्त
सामूहिक और व्यक्तिगत परीक्षा
बुद्धि-परीक्षा से लाभ
आचरण-परीक्षा :
ज्ञान प्राप्ति-परीक्षा

१२—अज्ञात मन — १६०-१६७
अज्ञात मन की विशेषताएँ
अज्ञात मन का विषय-वस्तु
अज्ञात मन की महत्ता
विश्लेषण

१३—असंतुलित बालक — १६८-१८०
अनुन्नत बालक
उत्कृष्ट बालक
बालापराधी

१४—प्रयोग — १८१-१९४
स्वतन्त्र संबंध-प्रयोग (निरंतर विधि)
पूर्ण निबद्ध संबंध-प्रयोग
ध्यान-विस्तार-प्रयोग
स्मृति-विधि-प्रयोग
दर्पण-लेखन-प्रयोग
स्थानापन्न पूर्त्ति-प्रयोग

१५—शब्द कोष — १९५-२००

परिचय

इस बात का उल्लेख करने के पहले कि मनोविज्ञान और शिक्षा में घनिष्ठ सम्बन्ध है, यह बतलाना आवश्यक है कि मनोविज्ञान क्या है, शिक्षा क्या है और किस प्रकार शिक्षा-क्षेत्र मे मनोविज्ञान के सिद्धान्तों का प्रयोग करके शिक्षा की समस्या सफलता से सुलझाई जा सकती है। जिस प्रकार शरीर-विज्ञान मे शरीर के विभिन्न अवयवों का अध्ययन होता है और रसायन मे विभिन्न तत्त्वों के बारे मे ज्ञान कराया जाता है, उसी प्रकार मनोविज्ञान मे क्रिया-प्रतिक्रिया, वृत्ति, संवेग, संवेदना, प्रत्यक्षीकरण, कल्पना, स्मृति, सीखना इत्यादि का अध्ययन होता है। प्राचीनकाल मे मनोविज्ञान के अध्ययन का विषय 'आत्मा' था। परन्तु 'आत्मा' तो दर्शन का विषय है। वह विज्ञान का विषय नहीं हो सकता। आत्मा सूक्ष्म है। वह दृष्टिगोचर नहीं होता और उसे स्पर्श नहीं किया जा सकता। आत्मा का अस्तित्व प्रयोग द्वारा भी प्रमाणित नहीं किया जा सकता। इस कारण 'आत्मा' के स्थान पर मनोविज्ञान का विषय 'मन' समझा जाने लगा और मन-सम्बन्धी शास्त्र-चर्चा अधिक उपयुक्त मालूम पड़ी। अब यह प्रश्न उठा कि 'मन' क्या है? इसका स्वरूप क्या है? इसकी विशेषताएँ क्या हैं? मन मे किस प्रकार की क्रिया-प्रतिक्रियाएँ चलती हैं? यद्यपि मन शब्द का साधारण बोल-चाल मे बहुत प्रयोग किया जाता है और आत्मा की तरह यह सूक्ष्म भी नहीं, फिर भी मन की धारणा सरल रहते जटिल है। मन भौतिक पदार्थ तो है नहीं जिससे समस्या सुलझ जाती।

मनोविज्ञान का क्षेत्र

मन तो निराकार है, उसका भी निरीक्षण और अनुभव नहीं किया जा सकता। इस कारण मनोवैज्ञानिकों को यह परिभाषा भी न जँची। उन्होंने सोचा कि मनोविज्ञान की परिभाषा ऐसी दी जाय और इसका विषय ऐसा बतलाया जाय जो निरीक्षण या अनुभव के द्वारा प्रमाणित भी किया जा सके। अतः मनोवैज्ञानिकों ने 'चेतना' को अपनाया। 'चेतना' अनुभव का विषय है। शिक्षक व्याख्यान दे रहा है। उसे यह चेतना रहती है कि वह विद्यार्थियों के सम्मुख है। इतिहास पर व्याख्यान दे रहा है। पिछले ज्ञान और अनुभव का बराबर प्रयोग कर रहा है। उसे यह भी चेतना रहती है कि वह जो कुछ कह रहा है, विद्यार्थी उसे शांति पूर्वक सुन रहे हैं। जब हम मित्रों के बीच रहते हैं, हमे यह चेतना रहती है कि हम अपनी मित्र-मण्डली मे हैं। हमे स्वच्छन्दता है। जो चाहे सो गप्प लगा सकते हैं। विद्यार्थियों के सामने की सजगता इस समय नहीं चाहिये। अनुभव का विषय होने के कारण कुछ दिनों तक मनोविज्ञान की यह परिभाषा चली कि इसमे 'चेतना' का अध्ययन होता है। यह सिद्धान्त विलियम जेम्स* के द्वारा प्रतिपादित हुआ है। उनका कहना था कि चेतना एक बहते सोते की तरह होती है। वह कोई स्थिर वस्तु नहीं है। चेतना मे अभी एक भाव और विचार हैं, दूसरे घड़ी दूसरे भाव और विचार उठ जा सकते हैं। चेतना के दो भाग हैं: एक तो केन्द्र, दूसरा परिधि। जो भाव या विचार चेतना के केन्द्र मे है वह आसानी से और तुरत परिधि पर जा सकता है; और जो परिधि पर है वह केन्द्र पर आ सकता है। कवि अपने भावों मे बहता-रमता शब्दों को भाव के मेल मे बैठा रहा है। गर्मी का मौसम है—यह बात उसके चेतना के केन्द्र पर नहीं है, फिर भी परिधि पर है। सूर्य तेज होते ही उसका ध्यान उधर की ओर खिंच जाता है और वह अपना कागज

* विलियम जेम्स की मुख्य पुस्तक 'प्रिन्सपल्स् आफ साइकॉलजी' है। इनका 'संवेग का सिद्धान्त' बहुत प्रसिद्ध है।

कलम समेट कर कमरे की ओर चल पड़ता है। मनोविज्ञान का विषय चेतना का अध्ययन है, इसका भी खंडन किया गया। चेतना साकार और स्थूल वस्तु नहीं है। इसका प्रत्यक्षीकरण नहीं हो सकता और इस पर प्रयोग भी नहीं किया जा सकता। यह तो अपना व्यक्तिगत अनुभव है। इसके आधार पर कोई सामान्य सिद्धान्त नहीं बनाया जा सकता। एक व्यक्ति की चेतना दूसरे व्यक्ति की चेतना से अलग होती है। विज्ञान के सिद्धान्त सामान्य होते हैं। जो बात एक व्यक्ति या वस्तु के लिये होती है वही दूसरे के लिये भी होती है। जो एक प्रकार की स्थिति मे एक बार लागू होती है वह उसी प्रकार की स्थिति मे हर बार लागू होती है। इस कारण मनोविज्ञान मे एक नयी धारा निकली। यह धारा 'व्यवहारवाद' की है। इसके प्रवर्त्तक जॉन वाट्सन थे। इस धारा ने 'चेतनावाद' का विरोध किया और यह प्रकाशित किया कि मनोविज्ञान के अध्ययन का मुख्य विषय व्यवहार है। मनुष्य मे जो मानसिक क्रियाएँ चलती हैं वे और कुछ नहीं केवल एक प्रकार की उत्तेजन-प्रतिक्रिया हैं। जब कोई भयानक वस्तु सामने आती है, ज्ञान-वाही तन्तु (सेन्सरी नर्व) मस्तिष्क को सूचना देता है और क्रियावाही तन्तु (मोटर नर्व) द्वारा मस्तिष्क आदेश देता है और वह व्यक्ति तुरत अपनी जीवन-रक्षा के लिये भाग खड़ा होता है। मनुष्य मे वृत्ति के रूप मे कोई प्रेरक शक्ति नहीं रहती। वृत्ति केवल एक प्रकार की जटिल उत्तेजन-प्रतिक्रिया है। इसी प्रकार मन सम्बन्धी अन्य क्रिया-व्यापार का भी विवरण दिया गया। इस धारा के अनुसार मनोविज्ञान के अध्ययन की मुख्य विधियाँ निरीक्षण और प्रयोग हैं। यदि 'व्यवहार-वाद' की परिभाषा मान ली जाय तो यह प्रमाणित हो जाता है कि मनो-विज्ञान एक पौजिटिव विज्ञान है। किसी भी बालक या किशोर के व्यवहार से उसकी मानसिक अवस्था के बारे मे पूरा पता लगाया जा सकता है। किन्तु 'व्यवहारवाद' का भी खण्डन किया गया। यह कहना

गलत है कि सभी मानसिक क्रिया का विवरण शारीरिक क्रिया-प्रतिक्रिया के रूप मे दिया जा सकता है। मनुष्य का कार्य प्रयोजनमय रहता है। आभ्यन्तरिक क्षेत्र से प्रेरणा मिलती है। सब प्रकार के व्यवहार के लिये बाह्य वस्तु का इन्द्रिय से सम्पर्क पर्य्याप्त नहीं होता। सभी व्यवहार का विवरण नाड़ी मण्डल से सम्बन्धित करके नहीं दिया जा सकता। ऐसे व्यवहार भी हैं जिनके लिये आभ्यन्तरिक प्रेरणा आवश्यक है।

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ होते ही एक और नयी धारा का प्रादुर्भाव हुआ जो मनोविश्लेषण के नाम से विख्यात है। मनोविश्लेषण मे अज्ञात मन का बहुत महत्व दिखलाया गया है। इस धारा के प्रवर्त्तक फ्रायड हैं। उनके अनुसार मनुष्य की सब क्रियाएँ—आचरण, व्यवहार इत्यादि—अज्ञात मन से निर्धारित होती हैं। यदि अज्ञात मन सरल है, उसमे भावना-ग्रन्थियाँ नहीं पड़ी हैं तो मनुष्य का व्यवहार-आचरण भी सरल होगा। उसके व्यक्तित्व मे किसी प्रकार का मानसिक विच्छेद नहीं होगा। यदि अज्ञात मन जटिल है और इसमे बहुत-सी दबाई हुई इच्छाएँ इकट्ठी हैं तो उसका व्यक्तित्व अशृंखलित तथा जटिल होगा और वह अपने को वातावरण से असन्तुलित पायेगा।

आधुनिक युग मे मनोविज्ञान का क्षेत्र बहुत व्यापक हो गया है। इसमे ज्ञात और अज्ञात मन दोनों का अध्ययन किया जाता है। मनुष्य के व्यवहार और अनुभव का भी अध्ययन होता है। मनोविज्ञान मे केवल सिद्धान्तों का प्रतिपादन नहीं किया गया है, यह भी बतलाया गया है कि मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का उपयोग करके किस प्रकार जीवन को समृद्ध किया जा सकता है। यहाँ तक कि 'व्यावहारिक मनोविज्ञान' (अप्लाइड साइकॉलजी) एक स्वतन्त्र शाखा बन गयी है। व्यावहारिक मनोविज्ञान मे मुख्य रूप से शिक्षा, औषधि, कानून और व्यवसाय सम्बन्धी समस्याओं पर विचार किया गया है। शिक्षा-क्षेत्र मे मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का सबसे पहले और सबसे अधिक

उपयोग हुआ है। संस्थाओं मे बालक के बौद्धिक स्तर और मानसिक अवस्था का ध्यान रखकर अब शिक्षा की व्यवस्था की जाने लगी है। पाठ्य-पुस्तक नियत करने के पहले यह विचार कर लिया जाता है कि वह एक श्रेणी के बालक के लिये कहाँ तक उपयोगी है और उसके मानसिक, सामाजिक और नैतिक विकास मे सहायक हो सकेगी। इस पर भी विचार-परामर्श होता रहता है कि प्रतियोगिता, दण्ड-पुरस्कार का प्रभाव बालक के मानसिक विकास पर किस प्रकार पड़ सकता है। इसी से शिक्षा अब पूर्ण रूप से वैज्ञानिक हो गयी है।

शिक्षा क्या है? सोलहवीं शताब्दी मे योरप मे शिक्षा का अर्थ केवल ग्रीक और लैटिन भाषा और साहित्य का अध्ययन करना था। जो लोग ग्रीक और लैटिन पर बल देते उन्हें ह्युमेनिस्ट कहा जाता। उनमे एरेस्मस का नाम विशेष उल्लेखनीय है। वह ग्रीक भाषा का पुजारी था। ह्युमैनिस्टिक अध्ययन के प्रतिक्रिया मे यथार्थवाद का विकास हुआ और इसके फलस्वरूप शिक्षा का संबंध व्यावहारिक जीवन से बहुत घनिष्ठ बना।

कुछ लोग शिक्षा को जीविकोपार्जन का साधन समझते हैं। बालक पढ़ लिखकर बड़ा होगा तो प्रोफेसर बनकर चार पैसा कमायेगा। कुछ लोग शिक्षा का अर्थ 'बौद्धिक विकास' समझते हैं—यह कि पुस्तक पढ़ने से और अध्यापक का व्याख्यान सुनने से बुद्धि का विकास होता है। कुछ लोगों का कहना है कि शिक्षा से केवल बुद्धि का विकास नहीं, आचरण का विकास भी होता है। कुछ के अनुसार शिक्षा का अर्थ है

शिक्षा का उद्देश्य और क्षेत्र

व्यक्तित्व का विकास करना। वास्तव मे शिक्षा 'व्यवहार का वांछनीय परिवर्त्तन है।' शिक्षा शब्द बृहत् अर्थ में प्रयोग किया गया है। जन्म से मृत्यु तक मनुष्य जो कुछ सीखता है, अनुभव करता है, और अपने प्रकृत व्यवहार—क्रिया-प्रतिक्रिया, संवेग, बुद्धि, स्मृति, कल्पना और विचार—

मे वातावरण के सम्पर्क से परिवर्त्तन लाता है वह सब शिक्षा मे निहित है।
शिक्षा का उद्देश्य मानव के व्यवहार मे परिवर्त्तन लाना है। व्यवहार मे परिवर्त्तन लाने का अर्थ है—व्यवहार को आदर्श रूप देना। शिक्षा के बिना, वृत्ति और संवेग प्रकृत रूप में रह जाते हैं। शिक्षा से परिवर्त्तन होता है और इनका रूप सुसंस्कृत हो जाता है। बालक पैदा होते ही दूध के लिये मचलने लगता है, क्योंकि उसमें भोजन की वृत्ति है। वह हाथ-पैर पटकने लगता है, क्योंकि उसमे विद्रोह-वृत्ति है। शिक्षा का कार्य है इन सब प्रकृत इच्छाओं मे परिशोधन लाकर उनमे समन्वय स्थापित करके आचरण का निर्माण करना। शिक्षा से प्रारम्भिक इच्छाएँ परिमार्जित हो जाती हैं, और शिक्षा न मिलने पर परिमार्जित नहीं होतीं, उसी रूप मे रह जाती हैं। जब तक इच्छाएँ परिमार्जित नहीं होतीं, मनुष्य का आचरण नहीं बन सकता। मनुष्य का आचरण बहुत कुछ उसकी प्रकृत इच्छाओं के परिमार्जन पर निर्भर है। इसी कारण से इच्छाओं के परिमार्जन के बारे मे प्रारंभ से ही बहुत ध्यान रखना है।

शिक्षाका उद्देश्य बालक का बौद्धिक विकास करना है। बालक मे जन्म से ही किसी वस्तु के बारे मे ज्ञान नहीं रहता। जब वह शैशवावस्था मे रहता है, वह यह भी नहीं जानता कि शेर, भालू, वृक्ष फूल या मैदान क्या हैं। धीरे-धीरे धारणाएँ बनती हैं। माँ बतलाती है कि वृक्ष मे हरी-हरी पत्तियाँ होती हैं, यह कच्ची जमीन पर लगाया जाता है, फर्श पर यह नहीं लग सकता। चित्र से या वृक्ष को ही दिखलाकर समझाती है कि यह वृक्ष है। इस प्रकार बालक मे वृक्ष की धारणा बन जाती है। "यह कटीला पेड़ गुलाब का है। इसमें काँटे तो हैं पर इसकी महक बड़ी भीनी-भीनी होती है। तुम्हीं देखो।" अब बालक के मन मे गुलाब के पेड़ की धारणा बन जाती है। पाठशाला मे पढ़ने से उसे बहुत से विषयों का ज्ञान होता है। विद्यालय मे और भी ऊँची शिक्षा प्राप्त करता है और इस प्रकार अध्ययन से ज्ञान की वृद्धि होती जाती है।

शिक्षा का उद्देश्य, बौद्धिक विकास के साथ ही साथ, बालक को कार्य मे भी कुशल बनाना है। जब किसी विशेष कार्य को करने की शिक्षा मिली रहती है, बालक आगे चलकर उस कार्य को अधिक कुशलता से करता है। कृषि-शिक्षा पाने के बाद यदि कोई व्यक्ति गाँव मे खेती का व्यवसाय करता है तो वह निश्चय ही उस कार्य को अधिक कुशलता से करेगा। जिसे शिक्षा नहीं मिली रहती वह काम चला लेता है किन्तु कुशल नहीं हो पाता और उसे उस कार्य को करने मे अधिक समय भी लगता है। बहुत प्रकार के ऐसे भी कार्य हैं जिन्हें बिना सिखलाये वह समझ ही नहीं पाता। इस प्रकार शिक्षा का उद्देश्य, संक्षेप में, मानव के व्यवहार, बौद्धिक स्तर और कार्य-गति मे उपयुक्त परिवर्तन लाना है जिससे वह सभ्य और कुशल नागरिक बन सके। यह तभी सम्भव है जब उसके मानसिक स्तर में भावात्मक, बोधात्मक और क्रियात्मक दृष्टि से आवश्यक परिवर्त्तन-परिवर्धन हो जाता है।

शिक्षा के उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए शिक्षक को मनोविज्ञान का ज्ञान होना आवश्यक है। बालक की मनोवृत्ति में उपयुक्त परिवर्तन लाने मे वह तभी सफल हो सकता है जब उसे मनोविज्ञान का ज्ञान होता है। वह बालक की मानसिक अवस्था समझते हुए उससे व्यवहार करेगा और उसके मानसिक स्तर के अनुकूल कोई शिक्षा-विधि ढूढ़कर उसे विषय का ज्ञान करायेगा। बालक के मानसिक विकास के लिए उपयुक्त उत्तेजन देगा। जब शिक्षक को मनोविज्ञान का ज्ञान नहीं रहता और वह बालक की क्रिया-प्रतिक्रिया से उसके मन की स्थिति को नहीं समझता तब वह केवल मशीनवत् निर्धारित समय पर पाठशाला जाकर बालक को पाठ रटायेगा। उसका ध्यान इस ओर नहीं जायेगा कि शिक्षा देने के लिए जिस विधि को उसने अपनाया है उसका प्रभाव बालक पर किस प्रकार पड़ रहा है; विषय उसके रुचि का है अथवा

नहीं। वह केवल भूगोल का पाठ पढ़ा देगा कि विन्ध्याचल पहाड़ हिन्दुस्तान के मध्य मे है, गंगा नदी हिमालय पर्वत से निकल कर बंगाल की खाड़ी मे गिरती है, हिन्दुस्तान मे कोयले की सबसे बड़ी खान आसनसोल और रानीगंज मे है और राजपूताने की जमीन ऊसर है; इतिहास का पांठ पढ़ाते समय यह बतला देगा कि हिन्दुस्तान मे गदर १८५७ मे हुआ था, पहला मुसलमान बादशाह बाबर था और उसने अपना आधिपत्य १७५६ मे कायम किया था। यदि शिक्षक ने मनोविज्ञान के विषय का अध्ययन किया है तो वह बालक का ध्यान बँटते देखकर विषय को रुचिकर बनाने की युक्ति ढूँढ़ेगा। क्रूर व्यवहार नहीं करेगा। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि बालक की रुचि यदि विषय मे किसी प्रकार भी उत्पन्न कर दी जावे तो उसका ध्यान अध्ययन की ओर झुक जायगा। इसके लिये सबसे अच्छा उपाय यह है कि बालक को किसी विषय का बोध उस विषय से संबंधित करके कराया जाय जिसमे बालक की रुचि है। तब उसका ध्यान नहीं बँटेगा। बालक की रुचि सफर मे है। ऐतिहासिक स्थानों मे यदि उसे ले जाने का आश्वासन दिया जाय तो उसकी रुचि इतिहास के विषय मे हो जावेगी। विषय मे बालक की रुचि उत्पन्न हो जाने से उसका ध्यान अध्ययन मे स्वतः लग जावेगा। यदि अध्ययन मे जन्मजात रुचि होती है तो कोई समस्या नहीं उठती। शिक्षक का यह आक्षेप गलत है कि बालक का ध्यान किसी ओर नहीं होता। वह ध्यान न लगने के कारण कक्षा मे किसी बात को नहीं सुनता। वास्तव मे बालक के ध्यान का क्षेत्र खाली नहीं रहता! उसका ध्यान किसी और विषय की ओर रहता है। बालक का ध्यान आकर्षित करने के लिये जो मनोवैज्ञानिक सुझाव हैं उनका उल्लेख ध्यान के अध्याय मे किया जायगा। शिक्षक को उनका ज्ञान होना आवश्यक है। पहले शिक्षा मे शिक्षक तथा विषय मुख्य समझे जाते थे, अब बालक को

मुख्य बना दिया है। इस कारण यह आवश्यक हो गया है कि हम बालक के मनोविज्ञान को अच्छी तरह समझें।

शिक्षा का स्तर और विषय क्या रखा जाय यह शिक्षा की दूसरी बड़ी समस्या है। यदि सबके लिये एक ही स्तर और विषय रखा जाता है तो इससे हानि होगी। सबकी बुद्धि बराबर नहीं होती। किसी मे यह अधिक होती है और किसी मे कम। एक बालक प्रखर बुद्धि का होता है और दूसरा मन्द बुद्धि का। जो कुछ बुद्धि होती है उसमे कम बेसी नहीं की जा सकती। बुद्धि पैदायशी विशेषता है। यदि शिक्षक इस बात से परिचित नहीं है तो शिक्षा मे बहुत कुछ दोष आ जाने की सम्भावना है। एक ही श्रेणी की शिक्षा सब स्तर के बालकों के लिये नहीं रखी जा सकती। इससे किसी वर्ग के बालक को मानसिक सन्तोष नहीं मिलता। यदि शिक्षा का स्तर प्रखर बुद्धि के बालक के अनुकूल रखा गया तो मन्द बुद्धि का बालक कुछ समझ न पावेगा। पाठशाला मे उसका मन न लगेगा। गायब होकर बुरे संगी-साथी बनाकर सड़कों पर खेलेगा। निष्क्रिय स्वभाव का रहने पर उसमे अपने प्रति क्षोभ का भाव उदय होगा। वह सोचेगा 'मैं अभागा हूँ।' दूसरों को प्रतियोगिता मे भाग लेता देखकर और अपने को असफल पाकर मन मे हीनत्व-ग्रंथि डाल लेगा। अपने को तुच्छ और निकम्मा समझने लगेगा। यदि शिक्षा का स्तर मंद बुद्धि के बालक के अनुकूल रखा गया तो प्रखर बुद्धि का बालक विकास का साधन न पाने के कारण उन्नति न कर पावेगा। उसका मानसिक विकास स्थिर हो जावेगा। विषय मे रुचि न रह जावेगी। जब शिक्षक इस वैयक्तिक भेद की बात से परिचित रहेगा तब वह भर्ती करने के पहले ही बालक की बुद्धि का अनुमान लगा लेगा। जो बालक बहुत मंद बुद्धि का है उसके लिये शिक्षक यह प्रस्ताव रखेगा कि उसके अभिभावक उसे किसी ऐसी पाठशाला मे भर्त्ती करावें जहाँ मंद बुद्धि के बालकों को

शिक्षा पाने की व्यवस्था है। मनोविज्ञानवेत्ता को यह भली भाँति मालूम रहता है कि मनुष्य मे जन्मजात सीमाएँ हैं और इनके प्रति उदासीनता या अवज्ञा का भाव नहीं रखा जा सकता। वह सभी बालकों से समान रूप से उत्तीर्ण होने की आशा नहीं रखता। इस कारण वह सब श्रेणी के लिये अलग-अलग प्रबन्ध रखने का प्रस्ताव रखता है। इसके अतिरिक्त वह अभिरुचि का ध्यान रखकर व्यावसायिक शिक्षा देने का प्रबन्ध करता है। परीक्षा लेकर वह निर्धारित करता है कि अमुक व्यक्ति के लिये अमुक प्रकार की शिक्षा उपयुक्त है। जब शिक्षक वैयक्तिक भेद की बात से परिचित नहीं रहता, उसके सामने बालक समस्या रूप रहता है और वह कोई उपाय नहीं ढूँढ़ पाता। उसके सामने यह प्रश्न उठता रहता है कि क्यों और कैसे एक ही अध्यापक की संरक्षकता मे और एक ही शिक्षा-विधि का प्रयोग करने पर भी विवरण-पत्रिका मे इतना भेद मिलता है। वह यह नहीं समझता कि इसका मनोवैज्ञानिक कारण वैयक्तिक भेद है।

बालक की ज्ञान-वृद्धि बहुत कुछ इस बात पर अवलम्बित है कि शिक्षक ने बालक की संवेदना, प्रत्यक्षीकरण, स्मृति तथा कल्पना क्रियाओं के विकास के लिये कहाँ तक सुविधाएँ दे रखी है। इन मानसिक क्रियाओं का पूर्ण ज्ञान होना शिक्षक के लिये आवश्यक है। इस कारण इन सबके बारे मे भी शिक्षा-मनोविज्ञान मे अध्ययन किया जाता है। वास्तव मे ये सामान्य मनोविज्ञान के विषय हैं; किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से उपयोगी होने के कारण इनकी चर्चा शिक्षा-मनोविज्ञान मे भी विस्तार से की गयी है। 'संवेदना' और 'प्रत्यक्षीकरण' ज्ञान के सोपान हैं। ज्ञान के विकास के लिये बालक की संवेदना और प्रत्यक्षीकरण की क्रियाओं का विकास होना अत्यन्त आवश्यक है। इसके लिये शिक्षक को बालक की इन्द्रियों को उत्तेजित करने वाली सामग्री देना है। जब बालक अनेक रंग और आकार की वस्तुओं को देखता है, उसमे रंग

पहचानने और आकार समझने की शक्ति का विकास होता है। अलग-अलग धारणाएँ बनती हैं। जो धारणाएँ बनती हैं वे बहुत स्पष्ट रहती हैं। स्पष्ट धारणा बनाने के लिये बालक को स्थूल वस्तुएँ देना आवश्यक है। इसी प्रकार श्रव्य और स्पर्श सम्बन्धी उत्तेजन भी आवश्यक हैं जिससे जिसमे श्रव्य-इन्द्रिय तेज है वह अपने अनुकूल शिक्षा मे उत्तेजन पाये और जिसमे स्पर्श-इन्द्रिय तेज है वह अपने अनुकूल। जब बालक की संवेदना और प्रत्यक्षीकरण की क्रियाओं के विकास का ध्यान रखकर शिक्षा-विधि निर्धारित की जाती है तब बालक के ज्ञान की वृद्धि विशेष रूप से होती है। बाल्यावस्था मे अधिक प्रकार की वस्तुओं का निरीक्षण करने का अवसर मिलने से अधिक धारणाएँ बनती हैं और ये धारणाएँ स्पष्ट और सरल होती हैं। मॉन्टेसरी शिक्षा-प्रणाली मनोवैज्ञानिक आधार पर निकाली गयी है।

स्मृति-क्रिया के विकास के लिये पहले बालक को पाठ रटने के लिये दिया जाता था। मनोवैज्ञानिकों ने इस विधि को बालक की मानसिक अवस्था की दृष्टि से गलत प्रमाणित किया है। स्मृति के सम्बन्ध में बालकों पर कुछ प्रयोग किये गये हैं और प्रयोग करने पर यह निष्कर्ष निकला है कि स्मृति के विकास के लिये रटने की विधि ठीक नहीं है। इससे समय अधिक लगता है और जो कुछ स्मरण किया जाता है वह जल्दी भूल जाता है। मन मे अमिट छाप नहीं पड़ती। विभिन्न वस्तुओं के ज्ञान में सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाता। बालक पिछले ज्ञान और नये विषय मे सम्बन्ध नहीं जोड़ पाता। स्मृति-विकास के लिये मनोवैज्ञानिक सुझाव यह है कि बालक को जो कुछ भी स्मरण करने के लिये दिया जाय उसका अर्थ उसे विस्तारपूर्वक समझा दिया जाय। यदि वह कविता का अर्थ समझकर कविता याद करता है तो उसे वह जल्दी नहीं भूलता। अर्थ समझने पर वह स्वयं उसे अपने पिछले ज्ञान से सम्बन्धित कर लेता है। समय कम लगता है और आवृत्ति भी कम करनी पड़ती है।

जब शिक्षक मनोविज्ञान के सिद्धान्तों से परिचित रहता है वह शिक्षा-विधि मे आवश्यकतानुसार तबदीली कर लेता है।

इसी प्रकार कल्पना-क्रिया के सम्बन्ध मे भी मनोविज्ञान मे जो निष्कर्ष निकाले गये हैं उनपर ध्यान रखना आवश्यक है। शिक्षक को बालक की कल्पना-क्रिया के विकास की पूरी सुविधाएँ देना है। रंग और ब्रश से काल्पनिक चित्र बनाने वाला बालक कलाकार बनता है; बालू का घरौंदा बनानेवाला बालक इंजीनिअर होता है। कल्पना पर ही विचार और तर्क की क्रियाओं का विकास निर्भर है। यदि शिक्षक प्रारम्भ से ही व्यवस्थित रूप से कल्पना-क्रिया के विकास का साधन नहीं देता तो बालक के विचार और तर्क की शक्ति का विकास नहीं हो पाता। इस तरह शिक्षक को बालक की बुद्धि, योग्यता, अभिरुचि, मनोवृत्ति, संवेदना, प्रत्यक्षीकरण, स्मृति तथा कल्पना इत्यादि के मनोवैज्ञानिक विवरण का ज्ञान होना चाहिये। अन्यथा व्यावहारिक दृष्टि से वह सफल शिक्षक नहीं हो सकता।

मनोविज्ञान और शिक्षा का सम्बन्ध

अंग्रेजी मे कहावत है कि शिक्षक को जॉन और लैटिन दोनो ही को जानना चाहिये। केवल लैटिन अर्थात् विषय का ज्ञान पर्याप्त नहीं है। जॉन अर्थात् बालक की मानसिक अवस्था का, जो मनोविज्ञान का विषय है, ज्ञान भी आवश्यक है। जब शिक्षक को विषय के ज्ञान के साथ ही साथ बालक की मानसिक क्रियाएँ-प्रतिक्रियाएँ, मनोदशा की भी जानकारी रहती है तभी वह कुशल शिक्षक बन सकता है। तब वह बालक की मानसिक अवस्था का ध्यान रखकर ऐसे प्रकार का विषय पढ़ायेगा और ऐसी विधि से समझायेगा जो बालक के मानसिक विकास मे सहायक हो। कुशल शिक्षक ही उपयुक्त शिक्षा और विधि का निर्माण कर सकता है। स्विट्ज़रलैंड के प्रसिद्ध शिक्षावेत्त

पेस्टेलॉजी॰ ने पहले-पहल इस बात पर जोर दिया कि शिक्षक का मुख्य कर्त्तव्य बालक के मानसिक विकास के नियमो का अध्ययन करके, उन नियमो के अनुकूल चलकर, शिक्षा देना है। शिक्षक के लिये बालक की मानसिक अवस्था बहुत महत्व की है। शिक्षक के सम्मुख जब कभी कोई समस्या उठती है वह उसे मनोविज्ञान की सहायता से हल कर लेता है। कभी वह मनोवैज्ञानिकों के सम्मुख शिक्षा-सम्बन्धी नयी समस्याएँ भी रखता है। इससे मनोविज्ञान का विकास तीव्र गति से हो रहा है। इस प्रकार मनोविज्ञान और शिक्षा मे घनिष्ठ सम्बन्ध है। एक की प्रगति पर दूसरे की प्रगति निर्भर है। मनोविज्ञान के सिद्धान्तों के उपयोग के लिये सबसे उत्तम स्थान पाठशाला है। डा॰ जेम्स ड्रीवर का कथन है कि मनोविज्ञान की सहायता के बिना शिक्षक यह नहीं जान सकता कि वह अपने उद्देश्य मे कहाँ तक सफल हो रहा है। मनोविज्ञान के द्वारा वह बालक की प्रकृत इच्छाओं, उनके विकास, मन की बढ़ती हुई जटिलता, वातावरण के प्रभाव, आचरण के निर्माण—सभी के बारे मे समझ जाता है। यह भी उसे समझ मे आ जाता है कि एक बालक के व्यक्तित्व का प्रभाव दूसरे बालक के व्यक्तित्व पर कैसा पड़ता है। सामूहिक जीवन-यापन का प्रभाव बालक के व्यक्तिगत विकास पर क्या पड़ता है। शिक्षक यह भी समझ जाता है कि ज्ञान की प्राप्ति किस प्रकार होती है—किस प्रकार बालक धारणाएँ बनाता है और विचार विनिमय करने लगता है।

मनोविज्ञान का अधिक प्रचार होने के कारण नर्सरी स्कूल मे

॰ पेस्टेलॉज़ी अठारहवीं शताब्दी मे (१७४६-१८२७) स्विटज़रलैंड के प्रसिद्ध शिक्षावेत्ता थे। उनका मुख्य ध्येय शिक्षा की योजना मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर बनाना था। पेस्टेलॉज़ी ने कई शिक्षा संस्थाएँ खोलीं। उन्होंने एक नया बीज लगाया और वह अब खूब लहलहा उठा है।

बालक और बालिकाओं को खेल के द्वारा संख्या तथा वर्णाक्षरों का ज्ञान कराया जाने लगा है। स्कूल मे गिनती नहीं रटाई जाती। तार मे पिरोई मोतियों से बालक खेलता है और खेल ही मे संख्या गिनना सीख लेता है। कोई वस्तु त्रिकोण है या चौकोण, बड़ी है या छोटी—यह लकड़ी के बोर्ड मे सब आकार के बने छेद मे उसी आकार के बने लकड़ी के टुकड़ों को बैठाकर वह सीखता है। पहले तो वह छोटे टुकड़े को बड़े छेद मे और त्रिकोण को चौकोण मे बैठाने का प्रयत्न करता है। फिर उसमें यह धारणा बन जाती है कि यह बड़ा है और वह छोटा, यह त्रिकोण है और वह चौकोण। नर्सरी स्कूल मे किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं रहता। स्वतन्त्र होकर वह खुले दिल से खेलता है। खेल की वस्तुएँ शिक्षाप्रद होती हैं। इनसे वह बहुत कुछ सीख जाता है। मॉन्टेसरी और डाल्टन पद्धति मे बालक को खेल के द्वारा शिक्षा दी जाती है। इन सब पद्धतियों पर दृष्टिपात करने से इस बात की पुष्टि होती है कि मनोविज्ञान और शिक्षा मे घनिष्ठ सम्बन्ध है।

मनोविज्ञान की कई शाखाएँ हैं—असाधारण मनोविज्ञान, पशु मनोविज्ञान, बाल मनोविज्ञान, सामान्य मनोविज्ञान, व्यावहारिक मनोविज्ञान, प्रायोगिक मनोविज्ञान इत्यादि। यों तो मनोविज्ञान की

शिक्षा और प्रायोगिक मनोविज्ञान

किसी भी शाखा में जिन किन्हीं तत्वों के अनुसंधान हुये हैं वे शिक्षा की समस्या को हल करने मे उपयोगी होते हैं; फिर भी प्रायोगिक मनोविज्ञान मे किये गये अनुसन्धान विशेष रूप से उपयोगी हैं। बीसवीं शताब्दी मे प्रायोगिक मनोविज्ञान मे बहुत उन्नति हुई है। इसका क्षेत्र विस्तृत हो गया है। अब सभी मानसिक प्रक्रियाओं और मनोदशा का अध्ययन मनोविज्ञान शाला मे होने लगा है। प्रायोगिक मनोविज्ञान के जन्मदाता 'वुन्ड्ट' ने उन्नीसवीं शताब्दी मे पहली मनोविज्ञानशाला जर्मनी मे खोली। यह

मनोविज्ञानशाला केवल मन सम्बन्धी प्रयोगों के लिए नहीं थी। एक प्रकार से शरीर प्रयोगशाला की ही यह भाग थी। जो कुछ प्रयोग मनोविज्ञान-शाला मे किये गये वे सब संवेदना-संबंधी थे। केवल इन्द्रियों पर प्रयोग किये जाते थे। यह पता लगाने का प्रयत्न किया जाता था कि एक व्यक्ति के दृश्य-संवेदन और दूसरे के दृश्य-संवेदन में क्या भेद है; अथवा किसी व्यक्ति विशेष की दृश्य संवेदना तीव्र है या अन्य संवेदना। इन प्रयोगों के अतिरिक्त वहाँ और कुछ नहीं किया जाता था। वुन्ड्ट के साथी वेबर, फेशनर और हेल्महौल्ट्ज़ ने भी जो प्रयोग किये यद्यपि वे बालक की मानसिक अवस्था जानने के लिये नहीं थे तो भी उनसे बालक की मानसिक अवस्था के अध्ययन मे विशेष रूप से सहायता मिली। धीरे धीरे इस क्षेत्र मे बहुत उन्नति हुई है। अनेकों नये प्रयोग निकाले गये हैं। अब किसी व्यक्ति की संवेदना तथा अन्य मानसिक क्रियाओं का ही पता नहीं लगाया जाता, संवेगात्मक दृष्टि से उस व्यक्ति के मन की जो दशा है उसका भी पता लगाया जाता है। संवेग की दृष्टि से बालक की मानसिक दशा का पता लगाना शिक्षा के लिये आवश्यक है। बालक जब संवेगात्मक दृष्टि से अस्थिर रहता है, उसका मस्तिष्क अक्रियमाण हो जाता है, स्मृति निर्बल हो जाती है और उसका ध्यान शिक्षा को ओर नहीं रह जाता। उसकी संवेगात्मक अवस्था समझने पर ही, वातावरण मे परिवर्त्तन करके उसे बालक के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया जा सकता है। संवेगात्मक अवस्था का ठीक विवरण लेने के लिये वुडवर्थ ने कुछ प्रश्नों की एक सूची बनायी है। सूची मे ११६ प्रश्न हैं। उनमे से कुछ नीचे बतलाये जा रहे हैं।

१. क्या तुम्हें रात मे अच्छी नींद आती है?

२. क्या तुम्हें कभी चक्कर आता है?

३. क्या तुम्हे प्रायः सिर में तेज दर्द होता है?

४. क्या तुम आसानी से मित्र बना लेते हो?

५. क्या तुम यह सोचकर परेशान होते रहते हो कि रास्ते मे लोग तुम्हारी ताक मे रहते हैं ?

६. क्या तुम्हें छोटे कमरे मे दरवाजा बन्द कर बैठने मे परेशानी होती है ?

७. क्या तुम्हें चोरी करने की विशेष इच्छा हुई है ?

८. क्या तुम्हें आत्महत्या करने की कभी तीव्र इच्छा हुई है ?

९. क्या तुम खून देख सकते हो ?

इन प्रश्नों के उत्तर मे प्रयोग-पात्र को केवल 'हाँ' या 'नहीं' लिखना पड़ता है। प्रत्युत्तर से यह पता लग जाता है कि संवेग की दृष्टि से वह संतुलित है अथवा नहीं। इसी प्रकार चित्र-कथानक-परीक्षा (थीमेटिक ऐप्परसेप्शन टेस्ट) और मसी-अंक-परीक्षा (इंक ब्लौट टेस्ट) से भी संवेगात्मक अवस्था का पता लग जाता है। चित्र-कथानक-परीक्षा मे एक सादा कार्ड और उन्नीस चित्र होते हैं। इन चित्रों पर प्रयोग-पात्र को निश्चित समय के भीतर कहानी लिखनी पड़ती है। कहानी के आधार पर उसके मन का विश्लेषण किया जाता है। मसी-अंक-परीक्षा मे दस कार्ड होते हैं और इन कार्डों पर लाल अथवा काली स्याही के धब्बे रहते हैं। प्रयोग-पात्र को यह बतलाना पड़ता है कि वह धब्बे मे क्या देख रहा है। ये दोनों परीक्षाएँ अधिकतर विक्षिप्त व्यक्तियों की मानसिक दशा का पता लगाने के लिये उपयुक्त होती हैं। इस तरह प्रायोगिक मनोविज्ञान का संवेग सम्बन्धी अनुसंधान शिक्षा मे बहुत उपयोगी है। बालक की समस्या का कारण अधिकतर उसकी संवेगात्मक अवस्था होती है।

प्रायोगिक मनोविज्ञान मे शिक्षण-विधि के सम्बन्ध में भी अनुसन्धान हुए हैं। बालक जब कोई कार्य सीखता है, वह प्रारम्भ मे बहुत सी भूलें करता है; बार-बार प्रयास करने पर वह भूले नहीं करता और वह कार्य सीख जाता है। इस तरह सीखना अभ्यास का प्रश्न है। निरीक्षण करने

पर यह भी पता लगा है कि बालक बहुत सा कार्य अनुकरण और अन्त-र्दृष्टि से सीखता है। दूसरे विद्यार्थियों को पढ़ते हुये देखा। मन मे उत्सुकता हुई। अनुकरण की वृत्ति जागी और वह भी अध्ययन मे लग गया। वह अपनी सूझ से भी नयी युक्तियाँ निकाला करता है। प्रयोग करके और निरीक्षण के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि मनुष्य अधिकतर 'अन्तर्दृष्टि' से सीखता है। पशु 'प्रयास और भूल' के द्वारा सीखता है। प्रारम्भ मे बालक भी बहुत से कार्य प्रयास और भूल के द्वारा सीखता है। किन्तु बाद मे अन्तर्दृष्टि की प्रधानता हो जाती है। इस कारण यदि बालक भूल भी करे तो शिक्षक का व्यवहार क्रूर नहीं होना चाहिये। और यह भी कि शिक्षक अपना विषय इस रूप से प्रस्तुत करे कि वह सुगम् हो जाय और बालक अपनी सूझ से निष्कर्ष निकाल ले। इस प्रकार प्रायोगिक मनो-विज्ञान मे शिक्षण-विधि पर बहुत कुछ प्रकाश डाला गया है।

प्रायोगिक मनोविज्ञान मे स्मृति के सम्बन्ध मे जो प्रयोग किये गये हैं उनका भी शिक्षा की दृष्टि से बहुत उपयोग है। स्मृति-परीक्षा के लिये एक विशेष प्रकार का यन्त्र है और इसे 'जेस्ट्राव मेमरी अपरेटस' कहते हैं। इससे यह पता लगाने का उपक्रम किया जाता है कि स्मृति-क्रिया के लिये कौन सी बातें सहायक होती हैं। जब बालक को अर्थ समझाकर कविता याद करने के लिये दिया जाता है, समय कम लगता है और पुनरावृत्ति कम करनी पड़ती है; जब उसे कविता का अर्थ नहीं मालूम रहता, अधिक समय लगता है और अधिक पुनरावृत्ति करनी पड़ती है। यह निष्कर्ष 'जेस्ट्राव मेमरी अपरेटस' के द्वारा बालक को बार बार अर्थहीन और अर्थयुक्त शब्द दिखलाकर निकाला गया है। प्रयोग द्वारा यह भी स्थापित किया गया है कि आंशिक विधि से पूर्णांक विधि अधिक अच्छी है; यह भी कि अवकास पर स्मरण करना उत्कृष्ट है। शिक्षा की दृष्टि से ये प्रयोग बहुत मूल्य के हैं। यह सब

स्थिति जानने के कारण अब शिक्षक रटने की विधि का प्रयोग नहीं कराता। रटने की विधि शिक्षा-पद्धति से हटा दी गयी है। पहले यह विश्वास किया जाता था कि स्मृति के विकास के लिये कविता का रटना आवश्यक है। अब शिक्षालयों मे विद्यार्थियों को कविता का अर्थ पूरी तरह समझा दिया जाता है और तब उसको स्मरण करने के लिये कहा जाता है। स्मृति-क्रिया के विकास के लिये यह विधि वैज्ञानिक समझी गयी है और इससे विशेष लाभ उठाया जा रहा है।

प्रायोगिक मनोविज्ञान मे बुद्धि के माप के लिये जो परीक्षाएँ निकली हैं वे भी बड़े महत्व की हैं। बुद्धि-परीक्षा से बालक के मानसिक स्तर का पता लग जाता है। बालक को शिक्षा देना प्रारम्भ करने के पहले यह जानना आवश्यक है कि बालक की मानसिक आयु क्या है और उसे किस स्तर की शिक्षा दी जा सकती है। कुछ बालक उम्र मे तो अधिक होते हैं पर उनकी मानसिक आयु कम होती है। नौ वर्ष के बालक की मानसिक आयु पाँच वर्ष के बालक की मानसिक आयु के बराबर हो सकती है। बालकों का वर्गीकरण उनकी मानसिक आयु के अनुसार कर देने से शिक्षक का प्रयास सफल होता है। पहली बुद्धि-परीक्षा बिने ने १९०८ मे प्रकाशित किया। फिर बराबर इसमे संशोधन चलता रहा। प्रायोगिक मनोविज्ञान की बुद्धि-परीक्षा शिक्षा के लिये बहुत बड़ी देन है। इसका विस्तार से वर्णन आगे चलकर किया जायगा। शिक्षा-मनोविज्ञान के क्षेत्र मे थार्नडाइक, वुडवर्थ, हौलिंगवर्थ, केली और गेट्स के भी प्रयोग महत्व के हैं।

संक्षेप मे शिक्षा का उद्देश्य मन की ज्ञानात्मक अवस्था का विकास करना है और संवेगात्मक अवस्था मे संतुलन लाना है। बालक की जो जन्मदत्त विशेषताएँ और अभिरुचि अप्रस्फुटित हैं उन्हें प्रस्फुटित करना है; और ऐसा वातावरण उपस्थित करना है कि बालक मे भावना-

ग्रंथियाँ न पड़ने पावें जिससे स्वस्थ आचरण का निर्माण हो। यह सब मनोविज्ञान के तथ्यों तथा सिद्धान्तों द्वारा किया जा सकता है। मानसिक क्रिया और अवस्था का वैज्ञानिक रूप से ठीक-ठीक माप लिया जा सकता है। मनोविज्ञान मे नवीन तथ्यों का अन्वेषण होने से शिक्षा अब पूर्ण रूप से वैज्ञानिक हो गयी है। शिक्षा और मनोविज्ञान मे अनन्य सम्बन्ध है।

मानसिक विकास

जिस प्रकार शरीर का विकास होता है उसी प्रकार मन के क्रिया-व्यापार का भी विकास होता है। प्रश्न उठता है—क्यों कर कुछ व्यक्तियों का व्यवहार व्यवस्थित होता है और दूसरों का अव्यवस्थित होता है, कुछ व्यक्तियों की मानसिक अवस्था अधिक होती है और दूसरों की मानसिक अवस्था कम होती है? यह प्रश्न मानसिक विकास का प्रश्न है। मानसिक विकास के दो मुख्य सिद्धान्त हैं: क्रमिक विकास सिद्धान्त (पीरिऔडिक डेवेलपमेंट) और सम विकास सिद्धान्त (कौनकौमिटेंट डेवेलपमेंट)।

मानसिक विकास के सिद्धान्त

क्रमिक विकास सिद्धान्त के अनुसार मन के हरएक विशिष्ट गुण के विकास के लिये एक निश्चित समय होता है और उस निर्धारित समय के भीतर ही उस विशिष्ट गुण का विकास हो जाता है। यदि उस अवस्था तक विकास न हुआ तो वह विशेषता लुप्त हो जाती है। रूसो की शिक्षा-योजना का आधार यही सिद्धान्त है। रूसो का कहना है कि स्मृति का विकास बचपन मे होता है; तर्क का विकास बारह वर्ष की आयु के बाद होता है। इस कारण बच्चों की शिक्षा मे स्मृति के विकास का आयोजन रखना चाहिये। बचपन मे तर्क-शक्ति के विकास की ओर ध्यान रखना व्यर्थ है। परन्तु आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने इस पर आक्षेप किया है। सिग्मण्ड फ्रायड का कहना है कि किसी भी मानसिक क्रिया

के विकास का कोई निश्चित समय नहीं होता। सभी मानसिक क्रियाओं का विकास एक साथ अपनी गति से चलता रहता है। यह नहीं कि स्मृति का विकास बचपन मे होता है और तर्क का बाद मे; अथवा यह कि काम वृत्ति का विकास किशोरावस्था के पहले हो ही नहीं सकता। वास्तव मे बालक अपने मे पूर्ण है। उसमे जन्म से ही सभी विशेषताएँ रहती हैं और उनका विकास वातावरण के सम्पर्क से एक साथ होता रहता है।

सम विकास सिद्धान्त के अनुसार हरएक वृत्ति, संवेग, क्रिया-प्रक्रिया का विकास एक साथ चला करता है। अंग्रेजी मे कहावत है 'चाइल्ड इज ऐन अडल्ट इन मिनिएचर'। बालक छोटे रूप मे प्रौढ़ है। उसमे सब विशेषताएँ प्रारम्भ से मौजूद रहती हैं। जब वह बढ़ने लगता है उसकी सभी जन्मदत्त विशेषताओं का एक साथ विकास होता है। सम्भव है एक अवस्था विशेष मे एक वृत्ति का अधिक प्रदर्शन हो और दूसरी अवस्था विशेष मे दूसरी वृत्ति का। जैसे, काम वृत्ति किशोरावस्था मे अधिक व्यक्त होती है। कुछ वृत्तियाँ व्यक्त रूप मे हो सकती हैं और दूसरी अव्यक्त रूप मे। परन्तु यह बात कभी नहीं होती कि एक वृत्ति मौजूद हो और दूसरी वृत्ति का अस्तित्व ही न हो। एक क्रिया चल रही हो और दूसरी लुप्त हो।

मानसिक विकास के सम्बन्ध मे सामान्य रूप से तीन बातें ध्यान मे रखनी हैं। एक तो हरएक व्यक्ति के विकास की गति भिन्न होती है। किसी का मानसिक विकास जल्दी हो जाता है और किसी का देर से। यह तो एक स्वाभाविक बात है, उसी प्रकार जैसे किसी बच्चे का दाँत जल्दी निकल आता है और किसी बच्चे का दाँत देर से। बालक के मानसिक विकास की गति कम देखकर शिक्षक को व्यग्र नहीं होना चाहिये। जिस बालक का मानसिक विकास देर से होता है उसकी शिक्षा की व्यवस्था भी देर से की जा सकती है। मानसिक विकास की

गति का पता बुद्धि और कार्य-क्षमता परीक्षा द्वारा लगाया जा सकता है जिनका विस्तार से उल्लेख आगे चलकर किया जायगा।

दूसरी बात यह है कि मानसिक विकास क्रम से और धीरे-धीरे होता है। परन्तु निश्चित रूप से यह कहना कठिन है कि अमुक अवस्था शैशव की है या बचपन के प्रारम्भ की। एक अवस्था से दूसरे अवस्था मे व्यक्ति बिना किसी विशेष लक्षण के पहुँच जाता है। बहुत सी मिली-जुली विशेषताएँ रहती हैं। इस कारण मानसिक विकास की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं मे विभाजन रेखा नहीं खींची जा सकती।

तीसरी बात यह है कि मानसिक विकास पर शारीरिक विकास का बहुत प्रभाव पड़ता है। पौष्टिक भोजन लेने से मानसिक विकास की भी गति तीव्र हो जाती है। पौष्टिक भोजन शरीर के लिये ही नहीं, मन के विकास के लिये भी आवश्यक है। विशेषकर बाल्यावस्था मे मानसिक विकास पर भोजन का बहुत प्रभाव पड़ता है।

मनोविश्लेषण के समर्थक प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक डा० अर्नेस्ट जोन्स के अनुसार मानसिक विकास की दृष्टि से मानव की चार अवस्थएँ होती हैं: बाल्यावस्था, मध्यावस्था, किशोरावस्था और प्रौढ़ावस्था। यह ठीक बतलाना सम्भव नहीं है कि कब एक व्यक्ति एक अवस्था विशेष को पारकर दूसरी अवस्था विशेष मे प्रवेश करता है। सब व्यक्ति एक ही आयु मे एक अवस्था को पारकर दूसरी अवस्था मे नहीं पहुँचते। हाँ ! सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि बाल्यावस्था पाँच वर्ष तक चलती है, मध्यावस्था बारह, किशोरावस्था अठारह और इसके आगे प्रौढ़ावस्था चलती है। लड़कियों की किशोरावस्था लड़कों से जल्दी प्रारम्भ होती है।

मानसिक-विकास की अवस्थाएँ

साधारणतः बाल्यावस्था को तीन भागों मे बाँटा जा सकता है। पहली अवस्था मे बालक निष्क्रिय रहता है। वह माता-पिता पर पूर्णतः

निर्भर रहता है। यह भी उसे समझ नहीं रहती कि उसका अपना अलग अस्तित्व है। दो ढाई वर्ष तक यह अवस्था रहती है। दूसरी अवस्था तीन वर्ष से प्रारम्भ होती है। इस अवस्था मे आकर वह माता-पिता पर कम निर्भर रहने लगता है। वह स्वतन्त्र रहना चाहता है। अपने पर किसी का अंकुश नहीं चाहता। यदि माता-पिता ने दो बात समझाने की कोशिश की या कुछ करने के लिये मना किया तो वह हाथ-पैर पटकता है, झगड़ा करता है और अपनी बात सबके ऊपर रखना चाहता है। तीसरी अवस्था चार वर्ष का होने पर आती है। इसमे आकर उसे माता-पिता की परवाह नहीं रह जाती। हमजोली ढूँढ़ता है और उन्हीं के साथ खेलता है। आपस मे कहानी किस्सा कहता है, गप्प लगाता है। दूसरों का प्रशंसापात्र बनने का इच्छुक होता है। अपने पर निर्भर रहने से अपने मे विश्वास करता है। बड़ों से नहीं झगड़ता और उनसे सहयोगी का व्यवहार करता है। जब बालक का मानसिक विकास साधारण होता है तब वह एक अवस्था के बाद दूसरी अवस्था मे जाता है; जब विकास कम होता है तब वह तीसरी अवस्था मे पहुँच कर भी दूसरी या पहली अवस्था के बालकों सा व्यवहार करता है।

बाल्यावस्था

अब प्रश्न यह है कि सामान्य रूप से बाल्यावस्था की विशेषताएँ क्या हैं? बालक का संवेग प्रकृत और तीव्र होता है। परि-मार्जित नहीं हुआ रहता। यदि किसी बालक का खिलौना कोई तोड़ देता है तो वह तमतमा उठता है; जो तोड़ता है उससे उलझ जाता है या खीझकर रोने लगता है। कुछ काम बिगाड़ने पर माँ को देखकर भय के कारण सिसक-सिसक कर रोने लगता है। भूख लगने पर कहीं भी हो, वह मचल उठता है। प्रौढ़ व्यक्ति परिस्थिति देखकर अपने मन के संवेग को प्रकट करता है। उसमे भय का संवेग है किन्तु इसे प्रकट करना कायरता समझकर वह मन मे ही रखता है। क्रोध है पर

उस पर रोक थाम करता है। बालक की क्रियाएँ पूर्ण रूप से वृत्ति से संचालित होती हैं और प्रौढ़ की क्रियाएँ विचार और तर्क से। बालक तात्कालिक सुख चाहता है, प्रौढ़ दूर की सोचता है। बाल्यावस्था मे संवेग और वृत्ति का परिमार्जन न होने से उनका अधिकाधिक प्रदर्शन होता है। यही तो प्रौढ़ और बालक की क्रियाओं मे भेद है।

बाल्यावस्था मे कल्पना-क्रिया बहुत तीव्र और समृद्ध रहती है। यहाँ तक कि बालक कल्पना को सत्य मान लेता है। कल्पना और सच्ची घटना मे भेद नहीं समझता। कल्पित कहानी रचता है और कल्पित साथी के साथ खेलता है। बालक बैठा था। उसके पास एक कुर्सी खाली पड़ी थी। उसका भाई आया और कुर्सी पर बैठने ही वाला था कि बालक चिल्ला पड़ा 'मेरा मित्र बैठा है। मै अभी उसके साथ खेल रहा था, तुम मत बैठो।' उसकी कल्पना ऐसी सजीव थी कि वह कल्पना को सत्य समझ बैठा था। बालक जिन वस्तुओं की कमी महसूस करता है उनकी पूर्ति वह कल्पना द्वारा कर लेता है। अपने को वह सेनापति समझकर आत्म-प्रतिपादन की वृत्ति को संतुष्ट कर लेता है। माता-पिता और शिक्षक को बालक की कल्पना-प्रक्रिया के विकास के लिए उपयुक्त उत्तेजन देते रहना चाहिए। तभी वह आगे चलकर कवि, कलाकार तथा इंजीनिअर बन सकता है। नर्सरी शिक्षा मे बच्चों के लिए पेंसिल और रंग से मनमाना खेलने और चित्र बनाने का आयोजन रहता है। इससे उनके मन के भाव का प्रदर्शन होता है और उनकी कल्पना-क्रिया का विकास होता है।

बाल्यावस्था की यह भी विशेषता है कि इसमे जिज्ञासा की वृत्ति तीव्र रहती है। हरएक वस्तु को जानने और समझने के लिए बालक के मन मे कुतूहल होता है। बालक पूछता है 'माँ! चन्दा मामा हमसे कितनी दूर हैं? लम्बी सीढ़ी लगाने पर भी क्या हम वहाँ नहीं पहुँच सकते? भगवान् क्या हैं? कहाँ रहते हैं? हम सबको भगवान ने



बनाया है। बच्चे के कुतूहल को जाग्रत रखने के लिए शिक्षक को उसका पाठ्य विषय ऐसे रूप में प्रस्तुत करना चाहिए कि बालक की उत्सुकता अध्ययन में बनी रहे। तभी वह नये तथ्यों का अन्वेषण कर सकता है।

बाल्यावस्था मे मस्तिष्क का विकास विशेष नहीं हुआ रहता। इसी से बालक का ज्ञान सीमित रहता है और वह केवल स्थूल वस्तुओं के बारे मे समझ सकता है। इस कारण उसे सब वस्तुओं को दिखला कर उनका ज्ञान कराना चाहिए। प्रकार-प्रकार के पशु-पक्षी की धारणा बनाने के लिए बालक को अजायबघर मे ले जाना चाहिए। चित्र दिखलाना चाहिए। इससे बालक मे सही धारणाएँ बन सकेंगी। यही पद्धति उत्कृष्ट है। परन्तु अभी भी अनेक शिक्षा संस्थाओं मे इस ओर ध्यान नहीं दिया गया है।

बाल्यावस्था मे तर्कशक्ति नहीं क्रियमाण रहती, क्योंकि बारह वर्ष के पहले इसका विकास नहीं होता। इसी कारण बाल्यावस्था मे अधिकतर क्रियाएँ मूलवृत्ति से नियन्त्रित रहती हैं। प्रवृत्तिशील होने के कारण बालक साधारण उत्तेजन से ही उत्तेजित हो जाता है।

जब बालक शैशवावस्था मे रहता है वह अपने मन के भावों को संकेत के द्वारा प्रकट करता है। जब वह बड़ा होता है और उसका मानसिक विकास होता है, वह अपने मन के भाव को भाषा द्वारा व्यक्त करना प्रारम्भ करता है। ज्यों-ज्यों वह बाहरी वस्तुओं के सम्पर्क मे आता है, उसके मन मे सबकी धारणाएँ बनती हैं और इस प्रकार भाव को व्यक्त करने की भाषा समृद्ध होती है। पहले वह छुटपुट दो चार शब्द 'माँ' 'पा' 'पा' बोलता है; फिर बहुत से शब्द सीख जाता है। दो शब्द का वाक्य बोलने लगता है। बाद मे भाषा का विकास होने पर लम्बे वाक्य मे अपना भाव व्यक्त करने लगता है। माँ का अनुकरण करके वह बोलना सीखता है।

शैशवावस्था मे बालक की काम-भावना माता-पिता मे केन्द्रित रहती है। उसका संबंध माता-पिता से संवेगात्मक होता है। वह प्रेम का भूखा रहता है। उदासीन व्यवहार पाने पर उसके हृदय को चोट लगती है। लड़कों का आकर्षण माँ की ओर रहता है और लड़कियों का आकर्षण पिता को ओर रहता है। इस विषय पर कि बाल्यावस्था मे कामवृत्ति सजग रहती है, मतभेद है। कुछ मनोवैज्ञानिकों के अनुसार बाल्यावस्था मे कामवृत्ति नहीं होती। इसी आधार पर वे बाल्यावस्था को किशोरावस्था से भिन्न मानते हैं। मनोविश्लेषण के प्रवर्तक फ्रायड और उनके समर्थकों का कथन है कि बच्चों मे कामवृत्ति किशोर युवक की ही तरह होती है। केवल प्रदर्शन मे भेद होता है। बालक की कामवृत्ति का प्रदर्शन किशोर युवक की काम वृत्ति के प्रदर्शन से भिन्न होता है। फ्रायड ने कामवृत्ति के विकास के तीन स्तर माने हैं :

१. स्वतः कामपूर्णावस्था (औटो-इरौटिक स्टेज)
२. स्वकाम पूर्णावस्था (नारसिस्टिक स्टेज)
३. बाह्य वस्तु प्रेम (औलो-इरौटिक स्टेज)

स्वतः कामपूर्णावस्था प्रारम्भिक अवस्था है। इस अवस्था मे कामवृत्ति का विषय भोजन और मलमूत्र है। बच्चे को जो मिलता है उसे वह मुँह मे डाल लेता है। अँगूठा चूसता है। कुछ बच्चों में यह आदत बड़े होने पर भी मिलती है। स्वकाम पूर्णावस्था मे बालक के आकर्षण और प्रेम की वस्तु अपना शरीर और अहं रहता है। वह अपने ही शरीर के अंग से खेलता है और कल्पना मे उलझा रहता है। अग्रेजी मे इसे नारसिस्टिक स्टेज कहते हैं। एक ग्रीक पौराणिक आख्यायिका इस प्रकार है कि नारसीसस नाम के एक व्यक्ति ने झील मे अपनी परछाइँ देखी और वह अपने पर आप ही 'मोहित हो गया। इसी आधार पर फ्रायड का पारिभाषिक शब्द 'नारसीज़म' बना है। इस अवस्था मे मनुष्य अपने मे ही लिपटा रहता है। बाह्य वस्तु प्रेम की

अवस्था आने पर साथी की आवश्यकता पड़ती है। साथी परवर्गी हो सकता है और सहवर्गी भी। लड़कियों का लड़कों की ओर आकर्षण परवर्गी हुआ; और लड़कियों का लड़कियों के प्रति आकर्षण सहवर्गी हुआ।

शैशवावस्था मे बालक को साथी नही चाहता, जैसा कि काम की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को देखकर स्पष्ट है। वह अकेला बैठा खिलौनों से खेला करता है। चार पाँच वर्ष का होने पर उसे अकेला नहीं अच्छा लगता। वह मिलकर खेलना पसंद करता है। उसके मन मे दूसरों के प्रति प्रेम का भाव उत्पन्न हो जाता है। वह सहानुभूति दिखलाता है और अपनी चीजें दूसरों को बाँट देता है! शैशवावस्था की तरह अब वह माता-पिता पर आश्रित भी नहीं रह जाता।

विकास की दृष्टि से बाल्यावस्था का बहुत महत्व है। इसे शिक्षा-वेत्ताओं को विशेष रूप से ध्यान में रखना है। प्रमुख बात यह है कि बालक बड़ा लचीला होता है। जो कुछ चाहे उसे सिखलाया जा सकता है। यदि बालक क्रोधी स्वभाव का है तो उसकी वृत्ति और संवेग के परिमार्जन के लिये साधन जुटाकर उसके क्रोध को औसत स्तर पर लाया जा सकता है। यदि वह डरपोक अथवा भीरु स्वभाव का है तो वीरता की कहानियाँ सुनाकर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से समझा-बुझाकर उसके मन का भय हटाया जा सकता है और इस भय के संवेग के स्थान पर दूसरा संवेग जागरूक किया जा सकता है। यदि बालक मे चोरी की बान है तो उसका ध्यान उधर से हटाकर दूसरी ओर लगाया जा सकता है। यह बाल्यावस्था मे ही संभव है कि बालक आसानी से एक विषय छोड़कर दूसरे विषय मे लग जा सकता है। किशोरावस्था अथवा प्रौढ़ावस्था मे जाकर परिवर्त्तन नहीं होता। आदत, विचार-सिद्धान्त सब दृढ़ हो जाते हैं और व्यक्तित्वके स्थायी भाग बन जाते हैं। बाल्यावस्था के अनुभव पर मनुष्य का आचरण और व्यक्तित्व का

विकास निर्भर है। एडलर का कथन है कि जब बालक चार या पाँच वर्ष का रहता है तभी उसकी 'जीवन शैली' निश्चित हो जाती है। इसी 'जीवन शैली' पर उसके आचरण और व्यवहार का रूप निर्भर है। जिस प्रकार मकान की मजबूती मकान के नींव पर निर्भर है उसी प्रकार मनुष्य का व्यक्तित्व बचपन के अनुभवों पर निर्भर है।

बाल्यावस्था के बाद मध्यावस्था आती है। इसमे बालक का विकास एक रूप लेकर स्थिर हो जाता है। शरीर और मन की दृष्टि से बालक एक प्रकार वातावरण से सन्तुलित हो जाता है। उसके मस्तिष्क का विकास पूरी तरह हो चुका रहता है। आठ नौ वर्ष के बाद चक्षुरिन्द्रय और श्रवणेन्द्रिय का कुछ भी विकास नहीं होता। हाथ से कार्य करने मे बालक कुशल हो चुका रहता है, यद्यपि कार्य करने की मात्रा मे पीछे भी सुधार होता रहता है। किशोरावस्था मे पहुँचने पर संवेग के तीव्र होने से और शरीर मे परिवर्त्तन होने से वह फिर अस्थिर और असन्तुलित होता है।

मध्यावस्था

मध्यावस्था मे स्मृति-क्रिया विशेष क्रियमाण रहती है। विद्यार्थियों के विवरण से यह मालूम पड़ता है कि अभ्यास और उपयोग से स्मृति मे और भी वृद्धि की जा सकती है। बालक की रुचि भी कविताएँ कंठस्थ करने मे रहती है इसलिते उत्तम यह होगा कि शिक्षक इस अवस्था मे बालकों को अधिक से अधिक संख्या मे कविताएँ कंठस्थ करने के लिये दिया करें। इससे बालक की स्मृति-क्रिया का विकास होगा। विचार-विमर्ष के लिये अच्छी स्मृति आवश्यक है।

मध्यावस्था मे बालक को वस्तुओं के संग्रह करने का शौक रहता है। उसकी अधिकतर इच्छा चित्र और टिकट इकट्ठा करने की रहती है। शिक्षा की दृष्टि से संग्रह करने की वृत्ति उपयोगी है। पुस्तक और ऐतिहासिक महानुभावों के चित्र इकट्ठा करने का प्रोत्साहन देकर

मध्यावस्था की इस विशेषता का विकास करके इसे काम मे लाया जा सकता है। प्रकार-प्रकार के सुखाये हुये फूल-पत्ती के संग्रह करने का भी प्रोत्साहन दिया जा सकता है।

इस अवस्था मे सृजनात्मक वृत्ति भी बहुत तीव्र रहती है। औजार से चीजें बनाने मे बालक की रुचि होती है। आरी से लकड़ी काट रेत कर कुर्सी मेज बना लेता है। टूटी चीज जोड़ लेता है। मिट्टी से खिलौने बनाता है, रंग से चित्र रंगता है। विशेषता यह रहती है कि वह किसी एक कार्य मे कुशल बनना नहीं चाहता।

बालक का झुकाव स्थूल वस्तुओं की ओर होता है। वह दृश्य-प्रतिमा का अधिक प्रयोग करता है। बुद्धि का विकास कम होने के कारण उसका ध्यान सूक्ष्म की ओर नहीं जाता। बालक की शाब्दिक योग्यता समृद्ध नहीं रहती।

शैशवावस्था की तरह, मध्यावस्था मे बालक माता-पिता पर निर्भर नहीं होता क्योंकि उसका मानसिक और शारीरिक विकास पर्याप्त रूप मे हो गया रहता है। बहुतेरी चीजों से वह परिचित रहता है। वृत्ति-संवेग बहुत कुछ परिमार्जित-संशोधित हो गये रहते हैं। उसमे आत्म-निर्भरता आ गयी रहती है।

मध्यावस्था मे आने पर समूह-वृत्ति प्रबल होती है और सामाजिक भाव का विकास होता है। बालक को अकेले खेलना अखरता है। वह खेलने के लिये साथी-संगी चाहता है। बालक व्यक्तिगत न रहकर सामाजिक बनता है। अब वह माता-पिता, भाई-बहिन तथा कुटुम्ब तक ही केन्द्रित नहीं रहता। वह अपना मिलने-जुलने का क्षेत्र बढ़ाता है। छः सात वर्ष तक केवल तीन-चार बालक मिलकर खेला करते हैं, मध्यावस्था मे आकर वे सामूहिक खेल खेलते हैं। उनका गुट बनता है। दलबन्दी होती है। अपने दल के लिये बड़ी श्रद्धा होती है, दूसरे दल से दुश्मनी तक हो सकती है। मध्यावस्था मे बालिकाएँ अलग

खेलती हैं और बालक अलग। बालक और बालिकाओं का अलग गुट बनता है। बालिकाएँ स्वभाव से कोमल होती हैं, बालक कठोर और विद्रोही प्रकृति के। इसी कारण बालिकाएँ बैडमिंटन, पिंक पौंक और कैरम खेलती हैं; बालक हॉकी, फुटबाल और बास्कैटबाल। आत्म-प्रतिपादन की वृत्ति तीव्र होने के कारण बालिकाएँ प्रशंसा पाने की इच्छुक रहती हैं और उनका ध्यान अपने पहनावे की ओर बहुत रहता है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। उसमे सहानुभूति, प्रेम, सौहार्द्रभाव आवश्यक है। यह सब बालक सामूहिक खेल से सीखता है। इस कारण शिक्षालय मे बालकों के लिये सामूहिक खेल का आयोजन रहना आवश्यक है।

मध्यावस्था मे नीति की धारणाएँ बनाना बालक प्रारम्भ करता है। उसकी धारणाएँ सामाजिक परम्परा और कौटुम्बिक स्थिति के अनुरूप रहती हैं। जो सिद्धान्त परम्परा से चले आ रहे हैं उन्हें वह सत्य और ठीक समझता है। उसमे समाज के प्रति आदर का भाव रहता है। नौ वर्ष तक बालक मे नीति की ओर अपना स्वतन्त्र विचार नहीं बनता। वह अन्ध-विश्वासी रहता है। माता-पिता ने कहा 'चोरी मत करो। झूठ मत बोलो' और वह उसे मान लेता है। किसी ने पूछा तो कहा 'माँ कहती थी कि चोरी करना बुरा है। इस कारण मै चुराई हुई चीजें नहीं ले सकता। माँ कहती थी तुम झगड़ा न किया करो। मैं झगड़ा नहीं करना चाहता'। दस वर्ष के बाद माता-पिता के अति-रिक्त वह शिक्षक के आदेश निर्देशन से भी प्रभावित होता है। उसकी धारणाएँ अब माता-पिता और शिक्षक दोनों के प्रभाव से बनती हैं। अब वह उनके आदर्श को अपना लेता है। वह यह नहीं कहता 'माँ ने कहा है चोरी मत करना,' वह कहता है 'मै चोरी नहीं कर सकता; चोरी करने की बान बुरी होती है। सब मुझ से दुश्मनी भले ही करें मै मार-पीट नहीं पसन्द करता।' इस प्रकार धीरे धीरे बालक मे नीति

की ओर अपना स्वतन्त्र विचार बन जाता है। वह समझने लगता है कि चोरी, हत्या, डकैती बुरी बातें हैं। बालक अपने को निर्णायक रूप मे समझने लगता है।

बालक की सामान्य योग्यता (जेनरल ऐबिल्टी) का विकास भी मध्यावस्था मे होता है। सामान्य योग्यता होने का अर्थ है, कार्य कुछ भी हो उसे समझने-करने की साधारण योग्यता का होना। विशेष योग्यता (स्पेसीफिक ऐबिल्टी) का अर्थ है, किसी एक विशेष कार्य मे प्रवीण होना। बालक जब तक दस वर्ष का नहीं हो जाता उसकी विशेष योग्यता का पता नहीं लगता। उसमे किसी विशेष कार्य को करने की योग्यता भले ही न हो, रुचि रहती है। मध्यावस्था मे बालक की रुचि बहुत तीव्र होती है। वैयक्तिक भेद के कारण यह आवश्यक है कि एक बालक की रुचि एक विषय मे होती है और दूसरे बालक की दूसरे विषय मे। अच्छी शिक्षा-प्रणाली और अच्छे शिक्षक के द्वारा जिस विषय मे रुचि नहीं है उसमे भी उत्पन्न हो सकती है। नकशा के द्वारा भूगोल की शिक्षा देने से बालक की रुचि भूगोल मे हो जा सकती है। शिक्षक की पढ़ाने की शैली अच्छी रहने से भी रुचि हो जाती है। यदि शिक्षक की शैली अच्छी न हुई तो वह बालक मे रुचि उत्पन्न नहीं कर सकता।

मध्यावस्था के बाद किशोरावस्था आती है। किशोरावस्था सामान्य रूप से बारह और सत्रह वर्ष के बीच की अवस्था है। इसमे शरीर

किशोरावस्था

अथवा अंतःपिंड के विकास होने के कारण कामवृत्ति विशेष रूप से जागरूक हो जाती है। किशोरावस्था की यह प्रमुख विशेषता है। यही कारण है कि लड़कियाँ बन-ठन कर पाउडर लिपस्टिक लगा खूबसूरत साड़ियाँ पहनकर लड़कों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने का अनजाने मे प्रयत्न करने लगती हैं और लड़के अपने बाहुबल्य का प्रदर्शन करके आकर्षण का पात्र बनने का प्रयत्न करते हैं। कामवृत्ति का विकास सबमे समान नहीं होता;

किसी मे अधिक होता है और किसी मे कम। विकास होने पर आवाज मे भारीपन आ जाता है। डक्टलेस ग्लैन्ड से अधिक रस बहने लगता है। काम-प्रौढ़ता और शरीर प्रौढ़ता साथ-साथ चलती हैं।

लड़कियों की कामवृत्ति लड़कों से भिन्न होती है। किशोरावस्था के प्रारम्भ मे लड़कियाँ सहवर्गी होती हैं। अपने ही वर्ग के व्यक्तियों से मित्रता करती हैं और मित्रता बड़ी प्रगाढ़ होती है। बहुत दिनों तक यदि परवर्गी के सम्पर्क मे न आ पाई तो सम्भव है कि अपने वर्ग के प्रति जो प्रेम है वह पागलपन का रूप ले ले। कभी तो सहवर्गी के प्रेम मे विभोर होते उनका जीवन साधारण प्रकार का ही रहता है। सामान्य रूप से किशोरावस्था के पिछले दिनों मे लड़कियों का आकर्षण परवर्गी की ओर चला जाता है। लड़कों का ध्यान किशोरावस्था के आते ही परवर्गी की ओर लग जाता है।

भावुक होना किशोरावस्था का प्रधान लक्षण है। इसी कारण आकर्षण प्रगाढ़ होता है। इर्ष्या और निराशा के भाव सदा तीव्र रहते हैं। वह संवेग की धारा मे बहता है। साधारण सी उत्तेजना पर वृत्ति चलायमान हो जाती है; मन की बागडोर वह खो देता है। सफल होने पर जीवन मे चिराग जला, निराशा होने पर आत्महत्या के लिये भी वह तुरत ही तत्पर हो जाता है। जीवन से विराग हो जाता है।

किशोरावस्था मे वह आदर्श की खोज मे रहता है। कभी तो वह शिक्षक को अपना आदर्श मान लेता है, कभी इतिहास और उपन्यास मे से अपने आदर्श के अनुरूप किसी पात्र को चुन लेता है। यों तो मध्यावस्था मे ही 'हिरो-वरशिप' की ओर झुकाव थोड़ा बहुत शुरू हो जाता है; किन्तु किशोरावस्था की यह मुख्य विशेषता है। इस कारण इस प्रकार के आदर्श आचरण का व्यक्ति इर्द-गिर्द होना चाहिए

"Like the overflow of a great river, sex irrigates and fertilizes great tracts of lifes' territory":—Slaughter.

कि वह अपना नायक योग्य व्यक्ति को बना सके। शिक्षक का आचरण-व्यवहार युवक के लिये बहुत बड़ा उदाहरण है। लड़कों मे ही नहीं, लड़कियों मे भी 'हिरो वरशिप' की ओर झुकाव रहता है। एक उदाहरण है। मैट्रिक के पश्चात् कॉलेज मे आने पर एक छात्रा के मन मे शिक्षक के प्रति झुकाव विचित्र और असाधारण रूप मे हो गया। प्रतिदिन उपहार लेकर लजाते-शर्माते वह शिक्षक के घर जाया करती। इस व्यवहार से खीझकर उस शिक्षक ने उसे एक दिन होमवर्क न करने के लिये सब विद्यार्थियों के सम्मुख व्यंग की डॉट बतलायी। रो-रोकर उसने तूफान मचा दिया। चार रोज़ भोजन न किया। शिक्षक ने उससे एक मनोवैज्ञानिक की तरह व्यवहार किया और तब कहीं जाकर वह बेचारी उस चंगुल से छूटी। इसका यह अर्थ नहीं है कि शिक्षक के प्रति आकर्षण होना असाधारण व्यक्तित्व का ही लक्षण है। साधारण रूप मे यह आकर्षण रहने पर ही कॉलेज मे व्यवस्था रहेगी। किन्तु असाधारण रूप मे सब ओर से अपने को समेट कर एक शिक्षक मे विद्यार्थी का केन्द्रित होना पागलपन का लक्षण है। यह जानने के लिये कि कितने प्रतिशत् विद्यार्थी अपना आदर्श शिक्षक को मानते हैं, वैलेनटाइन ने कई विद्यालय के विद्यार्थियों पर प्रयोग किया। विद्यार्थियों की परीक्षा के लिये उन्होंने प्रश्नों की एक सूची तैयार की। जो कुछ उत्तर मिले उनके आधार पर यह स्थापित किया कि सत्तावन प्रतिशत् लड़कियाँ और सैंतीस प्रतिशत् लड़के अपना आदर्श शिक्षक को मानते हैं। सभी शिक्षकों के प्रति विद्यार्थी मे श्रद्धा नहीं होती। शिक्षक के प्रति उसकी शिक्षा-शैली, उसके ज्ञान और आचार-विचार-सिद्धान्त के कारण विद्यार्थी मे श्रद्धा हो जाती है। शिक्षक को विद्यार्थी के प्रति एक कुशल मनोवैज्ञानिक की तरह अपना व्यवहार-भाव रखना चाहिये। यदि वह पहले विद्यार्थी को असाधारण रूप से सिर चढ़ा लेता है और फिर उसके प्रति उदासीनता का भाव दिखलाता है तो विद्यार्थी के मनोभाव

को ठेस लगती है। उसके संवेगात्मक विकास मे बाधा पड़ती है। विद्यार्थी मे हीनत्व-ग्रन्थि पड़ जाती है और फिर कभी वह किसी कार्य मे अग्रशील नहीं होता। शिक्षक को तटस्थ रहते विद्यार्थी से सहानुभूति का भाव रखना है। तभी शिक्षक और विद्यार्थी का सम्बन्ध आदर्श रूप मे हो सकेगा। शिक्षक को चाहिये कि वह किशोर युवक या युवतियों को ऊँचे कोटि का साहित्य अध्ययन करने के लिये उत्साहित करे। अश्लील साहित्य के पढ़ने से नैतिक पतन होता है।

किशोरावस्था मे बुद्धि चरम सीमा को पहुँच जाती है। सामान्य रूप से पन्द्रह वर्ष की अवस्था के बाद बुद्धि का विकास नहीं होता। पन्द्रह वर्ष की उम्र के युवक के वाद-विवाद का बौद्धिक स्तर विश्व-विद्यालय की ऊँची कक्षा के विद्यार्थियों के बराबर हो सकता है। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि किशोरावस्था की समस्या का कारण बुद्धि की कमी है। इसका कारण समाज का बन्धन, रूढ़ि-परम्परा, सब प्रकार का अभाव तथा प्रकृत इच्छाओं का तीव्र होना है। विशेष रूप से कामवृत्ति और आत्मप्रतिपादन-वृत्ति सम्बन्धी मानसिक भूख के जाग्रत होने से समस्याएँ उठती हैं।

किशोरावस्था मे युवक अधिकतर अन्तर्मुखी होता है। वह कल्पनालोक मे विचरता है। बालक की तरह दिवा-स्वप्न देखता है। और भी रंगीला। भावनाओं की लड़ी पिरोता रहता है। अपने को वास्तविक जगत से मोड़कर काल्पनिक जगत मे रमता है। कभी तो बड़ी नौकरी की तमन्ना रखने से आलीशान महल का स्वप्न देखता है; कभी भावुक प्रेमी की कल्पना कर अपने प्रिय के साथ रंगरेलियाँ मनाता है; कभी निराश हो अपने को दुखी नायक समझ जीवन-नाटक की अन्त्येष्टि की कल्पना करता है। किन्तु सामाजिक भाव—दया, सहानुभूति, परोपकार—का उदय उसमे अवश्य हो गया रहता है।

समाज की सेवा का आदर्श उसके सामने रहता है। प्रौढ़ होनेपर वह बहिर्मुखी हो जा सकता है।

इस अवस्था मे धर्म के प्रति आस्था हो जाती है। बात यह है कि बाल्यावस्था मे तो मनुष्य जीवन की जटिल समस्याओं से मुक्त रहता है; अबोध बालक आशा-निराशा तथा जीवन के संग्राम को नहीं जानता। उसकी इच्छा अबोध और सरल होती है और साधारण तौर से तुष्ट भी हो जाती है। किन्तु किशोरावस्था मे अवांछनीय इच्छाएँ जाग्रत हो जाती हैं। आदर्श भी बन गया रहता है। इसी से निराशा मिलती है। प्रायः संघर्ष मे आदर्श की जीत होती है और प्रकृत इच्छा दबा दी जाती है। इस तरह निराशा मिलने पर वह ईश्वर की शरण जाता है। धर्म मे रुचि उत्पन्न होने लगती है। मनोविश्लेषण की दृष्टि से धर्म का पुजारी बनना परिस्थिति से समझौता करना है। यह एक प्रकार से कामवृत्ति की स्थानापन्न तुष्टि देता है; या यह कि धर्म परिमार्जित रूप मे कामवृत्ति का प्रदर्शन है। किशोरावस्था मे युवक स्थायी आचरण का निर्माण करता है और नीति की दृढ़ धारणाएँ बनाता है।

किशोरावस्था मे संवेग की दृष्टि से मन बड़ा अस्थिर रहता है। यह अवस्था द्वंद्व का युग है। प्रकृत इच्छा और आदर्श मे संघर्ष चलता है। एक ओर शारीरिक और मानसिक माँग रहती है और दूसरी ओर सामाजिक परम्परा। इसी कारण से वह कुछ निश्चय नहीं कर पाता। संवेग तीव्र होता है। यदि क्रोध का संवेग उठा तो लाल-पीले हो गये; यदि दुःख का संवेग उठा तो दुःख की सीमा नहीं है; यदि प्रेम का संवेग हुआ तो आनन्द विभोर हो उठे। बालक की तरह अवस्था रहती है।

शैशवावस्था मे बालक पूर्ण रूप से माता-पिता पर निर्भर होता है। किन्तु किशोरावस्था मे आने पर उसका रुख माता-पिता की ओर

से बदल जाता है। यह ऐसी अवस्था है जिसमें माता-पिता की हुकूमत नहीं चलती। हाँ, प्रेम और सहानुभूति से किशोर युवक और युवतियों को वश मे रखा जा सकता है। कठोर व्यवहार करने से उनके मन मे भावना-ग्रंथियाँ पड़ जाती हैं; और कभी वे विद्रोही भी हो उठते हैं। उनके बौद्धिक, नैतिक और आध्यात्मिक विकास मे बाधा पड़ती है। इसलिए अच्छा यही है कि माता-पिता का व्यवहार सहानुभूति का रहे।

किशोर युवक अनुभवी नहीं होता। वह अपने को आप नहीं समझ पाता। मनोविज्ञान के अनुसार मनुष्य को अपने को जानना-समझना आवश्यक है। जब युवक अपने मन की कमजोरी तथा भाव को समझ जाता है, उसके मानसिक विकार का क्षय हो जाता है। उसे किसी प्रकार का मानसिक रोग नहीं होता; व्यक्तित्व-विच्छेद नहीं हो पाता। वह अपने आप वृत्तियों तथा संवेगों का परिमार्जन करके अपने को विकास के ऊँचे स्तर पर ले जाता है। इसी कारण आधुनिक मनोवैज्ञानिकों का यह सुझाव है कि किशोर तथा किशोरी को इस अवस्था की विशेषताओं को स्पष्ट कर देना चाहिये जिससे वे अपने को पहेली न समझें। वे समझ जावें कि उनकी प्रकृत इच्छा और समाज के बन्धन मे द्वन्द्व चल रहा है। यह समझने पर ही वे अपनी प्रकृत इच्छा और वातावरण मे समझौता लाने का प्रयत्न ठीक से कर सकते हैं। अपने बारे मे या सामान्य रूप से मानव की प्रकृत कमजोरी की जानकारी होने पर मन की ग्रंथियाँ खुल जाती हैं। यह मनोवैज्ञानिक ही नहीं, दार्शनिक सत्य भी है। दर्शन के अनुसार वास्तविक तथ्य को न जानना ही संसार के माया-मोह तथा आवागमन का कारण है। जब मनुष्य आत्मा के वास्तविक स्वरूप को समझ जाता है, वह केवल 'सत्यम् शिवं सुन्दरम्' की छाया-प्रतिच्छाया हरएक वस्तु मे देखने लगता है। किशोर तथा किशोरी को कामविज्ञान से परिचित होना चाहिये और परवर्गी से मिलने की पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिये। तब उनमे परवर्गी

की ओर आश्चर्य्य और जिज्ञासा का भाव नहीं रह जावेगा। उनका संवेगात्मक विकास क्रम से होगा और साधारण रूप मे होगा। किशोरावस्था मे कामवृत्ति का असाधारण रूप से दमन करने से मानसिक ह्रास होता है।

किशोरावस्था मे मानसिक विकास पर ठेस न लगे—इसके लिये उपयुक्त वातावरण का भी होना आवश्यक है। वातावरण शब्द का प्रयोग यहाँ वृहत् अर्थ मे किया गया है। इसमे वह सब निहित है जिसका प्रभाव जीवन पर पड़ता है। किशोरावस्था की आवश्यकताओं को समझते हुये कुटुम्बियों और शिक्षकों का व्यवहार ऐसा होना चाहिये जिससे किशोर और किशोरी अपनी आभ्यन्तरिक माँग और परिस्थिति से बनाये आदर्श मे समझौता कर पावें। यों तो मनुष्य का जीवन ही एक समस्या है; और यह सम्भव नहीं है कि सभी समस्याएँ हटाई जा सकें। पर हाँ, प्रयत्न से समस्या को सुलझाया जा सकता है। किशोर यदि चाहे तो वह अपने संवेग-वृत्ति को ऐसा रूप दे सकता है जिससे वह कभी भी इनके हाथों का खिलौना न बनने पावे। कुछ व्यक्तियों मे सन्तुलन लाने की जन्मजात क्षमता रहती है। वे किसी भी परिस्थिति मे हों, अपनी प्रकृत इच्छा और आदर्श मे समझौता कर लेते हैं। कुछ व्यक्तियों मे कठिनाई पड़ती है।

मानसिक विकास की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं पर प्रकाश डालने के पश्चात् प्रश्न यह है कि मानसिक विकास पर किन बातों का प्रभाव पड़ता है? मानसिक विकास कुछ तो इस बात पर निर्भर होता है कि मनुष्य अपने वंशज से पैतृक संपत्ति के रूप मे क्या लाया है, और कुछ इस पर भी कि उसका वातावरण कैसा है। जिस बालक को अच्छा बीज मिला है और बीज को पनपने के लिये वातावरण मे हवा रोशनी और पानी की सुविधाएँ भी रही हैं, उसका मानसिक विकास तीव्र

वंशानुक्रम और वातावरण

गति से होता है। यदि बीज अच्छा न रहा तो बालक का मानसिक स्तर कभी भी ऊँचा नहीं हो सकता। बीज का जैसा गुण रहेगा उसी के अनुरूप पौधा निकलेगा। अंग्रेजी मे कहावत है 'लाइक टेन्ड्स टु बिगेट लाइक'। जो विशेषताएँ माता-पिता और पूर्वजों की होती हैं वे ही विशेषताएँ बच्चों में भी आती हैं। पर यह भी है कि अच्छा बीज होते यदि और सब साधन न जुटाये गये तो बीज का पौधे के रूप मे पनपना असंभव है। वातावरण के सम्पर्क से बालक का मानसिक विकास होता है। वातावरण से बालक मे विशिष्ट गुण उत्पन्न नहीं हो सकता। जो विशेषता मौजूद है वही निखर सकती है। इस प्रकार मानसिक विकास पर वंशानुक्रम और वातावरण दोनों ही का प्रभाव पड़ता है।

अब यह देखना है कि मानसिक विकास पर वंशानुक्रम का प्रभाव अधिक पड़ता है या वातावरण का। इस संबंध में मनोवैज्ञानिकों मे मतभेद है। गौल्टन ने वंशानुक्रम को अधिक महत्व दिया है। उनके अनुसार मनुष्य का कार्य-क्षेत्र वंशानुक्रम से निर्धारित होता है। प्रतिभा रहने पर विद्यार्थी झोपड़े मे रहकर भी विद्यालय की परीक्षा मे प्रथम स्थान पा सकता है। गौल्टन ने बहुत से जुड़वा बच्चों का उदाहरण देकर अपने सिद्धान्त की पुष्टि की है। हर्बर्ट ने वातावरण की प्रभुता माना है। इसी कारण हर्बर्ट अपनी शिक्षा-योजना मे एक आशावादी की तरह आगे बढ़े। उनका यह विश्वास था कि शिक्षा से बालक को कोई भी रूप दिया जा सकता है। अंग्रेज मनोवैज्ञानिक बर्ट ने भी वातावरण पर अधिक बल दिया है। उनका कथन है कि बालक के मानसिक विकास पर कुटुम्ब का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। कौटुम्बिक दोष होने पर बालक का मानसिक विकास स्थिर हो जाता है या पीछे की ओर गति ले लेता है। बालक का मानसिक विकास और ह्रास बहुत कुछ माता-पिता के व्यवहार पर निर्भर होता है। एक बालक के प्रति प्रेम और दूसरे के प्रति उदासीनता का प्रभाव बुरा पड़ता है। माता-

पिता के आपस मे वैमनस्य का भी प्रभाव बालक पर अस्वास्थ्यप्रद होता है। कुटुम्ब निर्धन होने पर बालक मे हीनत्व-ग्रंथि पड़ती है और उसका मानसिक विकास होना रुक जाता है। मानसिक विकास मे मनुष्य आगे की ओर बढ़ता है; मानसिक ह्रास मे पीछे की ओर।

प्रोफेसर नन ने गौल्टन और हर्बट दोनों के ही सिद्धान्त का विरोध किया है। यह गलत है कि वंशानुक्रम पर बालक पूर्ण रूप से निर्भर होता है; यह भी गलत है कि वातावरण पर ही वह निर्भर होता है। मुख्य बात 'बालक' है। चाहे तो वंशानुक्रम से लायी विशेषताओं का और वातावरण से प्राप्त सुविधाओं का वह उपयोग कर सकता है और न चाहे तो नहीं भी कर सकता है। इससे यही समझ पड़ता है कि मानसिक विकास मे वंशानुक्रम या वातावरण से अधिक महत्व 'बालक' ही का है।

जो कुछ भी हो, मानसिक विकास के लिये शिक्षा-योजना मे सभी सुविधाओं को जुटाना है। तभी शारीरिक और बौद्धिक विकास आपो-आप होगा। मानसिक विकास पर शारीरिक और बौद्धिक विकास का दायित्व है।

वृत्ति

मानव की प्रारम्भिक इच्छायें वृत्ति से सम्बधित रहती हैं। वृत्ति प्रेरणा देती है और वह उसी के अनुरुप व्यवहार करता है। बालक पैदा होते ही दूध के लिये मचलने लगता है क्योंकि उसमे भोजन के अन्वेषण की वृत्ति है। खेलने के लिये वह साथी चाहता है क्योंकि उसमे समूह मे रहने की वृत्ति है। साँप को देखकर वह भागना चाहता है क्योंकि उसमे अपनी रक्षा करने की वृत्ति है। किसी भी नई और अदभुत् वस्तु को देखकर बालक के मन मे उस वस्तु को जानने के लिये कुतूहल होता है क्योंकि उसमे जिज्ञासा की वृत्ति है। वह दूसरों पर अपनी हुकूमत रखना चाहता है क्योंकि उसमे आत्म प्रतिपादन की वृत्ति है। और दूसरे वर्ग के व्यक्ति को देख कर उसमे आकर्षण होता है क्योंकि उसमे कामवृत्ति क्रियमाण है। पशुओं मे भी यही मिलता है। पक्षी को घोसला बनाना सिखलाया नहीं जाता; जन्म से ही तिनके इकट्ठा कर वह घोंसला बनाने लगता है। मछली को तैरना नहीं सिखलाया जाता; उसमे तैरने की जन्मजात वृत्ति होती है। व्यवहार सरल हो या जटिल, नैतिक हो या अनैतिक, वृत्ति के स्वभाव और स्वरूप पर ही वह निर्भर होता है।

शैशवावस्था मे वृत्तियाँ प्रकृत रूप मे रहती हैं। भूख लगी और बच्चा दूध के लिये मचल पड़ा। वह यह नहीं सोचता कि उसकी माँ सार्वजनिक सभा मे बैठी है और उसे दूध के लिये मचलना नहीं चाहिये। आगे चल कर उसकी वृत्ति का विकास होता है और वह समय और स्थिति का ध्यान रखकर भोजन की माँग करता है। विद्रोह की वृत्ति का भी प्रदर्शन बचपन मे प्रकृत रूप मे होता है। क्रोध आया और किसी को चार धौल जमा दिया; आगे चलकर सभ्य होने के नाते वह क्रोध को प्रकट

नहीं होने देता और बदला लेने की योजनाएँ बनाता है। बाल्यावस्था मे आत्म-प्रतिपादन की वृत्ति के कारण वह कल्पना के खेल खेलता है—वह राजा है और सब उसके सिपाही, अपनी ऐंठ वह इस प्रकार दिखलाता है। आगे चलकर वह देश के गौरव मे आत्म-तुष्टि पाता है। वृत्तियों मे परिवर्तन होने के कारण ही व्यवहार मे परिवर्तन आ जाता है। जिस व्यक्ति की वृत्ति का परिवर्तन जिस रूप मे होता है, उसी के अनुरूप उसका व्यवहार होता है। जिसकी वृत्तियाँ परिमार्जित हो गयी रहती हैं उसका व्यवहार सभ्य और सुसंस्कृत होता है; जिसकी वृत्तियाँ परिमार्जित नहीं हुई रहतीं उसका व्यवहार सभ्य और सुसंस्कृत नहीं रहता, प्रकृत रूप मे रहता है। इस प्रकार विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट होता है कि सब प्रकार के व्यवहार के लिये—सभ्य हो या असभ्य—वृत्तियाँ उत्तर-दायी हैं। जिस व्यक्ति की वृत्तियाँ अच्छी शिक्षा न मिलने के कारण संघटित और परिमार्जित नहीं हुई हैं उसका व्यवहार-आचरण उस व्यक्ति से भिन्न होगा जिसकी वृत्तियाँ अच्छा वातावरण मिलने के कारण संघटित और परिमार्जित हुई हैं। प्रायः वृत्तियाँ संघटित नहीं हो पातीं ; कोई एक वृत्ति तीव्र रह जाती है। जब आत्मप्रतिपादन को वृत्ति तीव्र रह जाती है तब व्यवहार का मुख्य संचालक वही हो जाती है और दूसरी वृत्तियाँ गौण हो जाती हैं। कुछ तो बिल्कुल ही निष्क्रिय हो जाती हैं, दबा दी जाती हैं। यदि वे उत्तेजित होती भी हैं तो उनका कार्य केवल आत्मप्रतिपादन की वृत्ति को ही तुष्ट करना रहता है। मन मे ऑफिसर बनने की तमन्ना है क्योंकि उससे सम्मान मिलेगा। जब सम्मान मे ठेस लगती है, विद्रोह की वृत्ति जाग्रत होती है। किन्तु विद्रोह की वृत्ति का अपना अलग कार्य नहीं है। इसका कार्य केवल आत्मप्रतिपादन की वृत्ति को तुष्ट करना है। परवर्गी का ध्यान वह अपनी ओर इसलिए आकर्षित नहीं करना चाहता कि उसमे काम-वृत्ति है। काम-वृत्ति तो गौण है। परवर्गी का ध्यान अपनी ओर वह इस

कारण आकर्षित करना चाहता है कि उसकी उस पर हुकूमत हो। इसी प्रकार जिस व्यक्ति की काम-वृत्ति तीव्र होती है उसका व्यवहार अधिकतर काम-वृत्ति से संचालित होता है और दूसरी वृत्तियाँ गौण रहती हैं या सहायक का स्थान लेती हैं। यदि वह स्वभाव से सक्रिय रहा तो उसे इस वृत्ति की तुष्टि दूसरों को पीड़ा पहुँचाने मे मिलेगी। मनोविश्लेषण के पारिभाषिक शब्द मे इसे 'सैडीजम' या 'परपीड़न' कहते हैं। यदि वह निष्क्रिय स्वभाव का रहा तो उसे अपने को पीड़ा पहुँचाने मे तुष्टि मिलेगी। इसे पारिभाषिक शब्द में 'मैकोइजिम' या 'स्वपीड़न' कहते हैं। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि अपने को पीड़ा देने से भी काम-वृत्ति की तुष्टि होती है।

इस तरह वृत्ति-प्रवृत्ति ही मानव के व्यवहार की नेह है। हरेक वृत्ति के बारे मे विस्तार से ज्ञान होना आवश्यक है। वृत्ति के स्वभाव तथा स्वरूप के बारे मे वर्णन करना सामान्य मनोविज्ञान का विषय है। पर इस पर प्रकाश डालना यहाँ इसलिए आवश्यक है कि बिना यह जाने कि वृत्ति का स्वभाव और स्वरूप क्या है, यह नहीं बतलाया जा सकता कि व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन मे वृत्तियों का क्या उपयोग है और किस प्रकार शिक्षा द्वारा इनमे उपयुक्त संशोधन किया जा सकता है।

वृत्ति के बारे मे मुख्य तीन सिद्धान्त हैं—

१. वृत्ति का प्रेरणा-सिद्धान्त
२. वृत्ति का क्षण-सिद्धान्त
३. वृत्ति का पुनरावृत्ति-सिद्धान्त

पहले सिद्धान्त के अनुसार वृत्ति ही मूल शक्ति है। इसी कारण वृत्ति को मानव के व्यवहार का प्रेरक माना गया है। कुछ मनोवैज्ञानिकों ने बहुत सी वृत्तियों का अस्तित्व माना है और यह कि मानव के विभिन्न व्यवहार के लिए ये सब उत्तरदायी हैं। जब उसमे

वृत्ति के सिद्धान्त

विद्रोह-वृत्ति प्रेरक बनती है, वह क्रोध से तमतमा जाता है, झगड़ा करता है। जब आत्मप्रतिपादन की वृत्ति प्रेरक बनती है तब वह सेनानायक बनने की कल्पना करता है, सब पर रोब गाँठता है। और जब मातृ-वृत्ति प्रेरक बनती है, उसका व्यवहार सहानुभूति का होता है। किन्तु मनो-विश्लेषण के प्रवर्त्तक फ्रायड ने केवल एक वृत्ति का अस्तित्व माना है, और वह कामवृत्ति है। कामवृत्ति ही मानव के क्रिया-व्यापार का मुख्य संचालक है और शक्ति का केन्द्र भी यही है। इसी कारण फ्रायड ने काम-शक्ति और मन-शक्ति मे भेद नही माना है। दोनो मे एकत्व माना है।

दूसरे सिद्धान्त के अनुसार, वृत्ति का अस्तित्व क्षणिक होता है। जिस तरह पानी मे बुलबुला उठता है और फिर विलीन हो जाता है उसी प्रकार वृत्ति एक बार उदय होती है और कुछ ही समय बाद अस्त हो जाती है। अस्तित्व ही नहीं रह जाता। यह सिद्धान्त जेम्स का है। विकास की एक अवस्था मे एक वर्ग की वृत्तियाँ क्रियमाण रहती हैं, और दूसरी अवस्था मे दूसरे वर्ग की। किन्तु यह सिद्धान्त निर्मूल है। यदि वृत्ति का अस्तित्व क्षणिक है तो यह कहना अनुचित होगा कि मानव का व्यवहार वृत्तियों पर निर्भर होता है। वास्तव मे वृत्ति ही मानव के व्यक्तित्व का स्थायी भाग है और स्थायी रूप से उसके व्यवहार को प्रेरित करती रहती है।

तीसरे सिद्धान्त के अनुसार, वृत्ति बीते युग की पुनरावृत्ति है। शिक्षा की ह्युरिस्टिक विधि इसी विचार-परम्परा से निकली है। इस प्रकार की शिक्षा-योजना मे ऐसा वातावरण रखा जाता है कि बालक अपने को अन्वेषक समझता है, जब कि वह कोई नई वस्तु की खोज नहीं कर रहा है। जो कुछ अन्वेषण हो चुका है उसी को वह पुनरावृत्ति करता है, पर उसके मन मे यह भाव होता है कि वह अन्वेषक है। बालक

वह सब प्रक्रियायें करता है जिन्हें उस अन्वेषण के लिये मनुष्य जाति को पहले करना पड़ा था।

वृत्ति क्या है इसके बारे मे बहुत-सी परिभाषाएँ दी हैं, जिनमे मैकडूगल की परिभाषा सबसे अधिक गठित और सारगर्भ है।

वृत्ति क्या है

मैकडूगल के अनुसार वृत्ति "शरीर और मन सम्बन्धी जन्मजात स्वभाव है जिसके कारण किसी व्यक्ति का ध्यान वस्तु विशेष की ओर जाता है; वह उस वस्तु विशेष की उपस्थिति मे एक विशेष प्रकार के संवेग का अनुभव करता है और कुछ विशेष क्रिया करता है; यदि क्रिया न भी हुई तो कम-से-कम उस क्रिया को करने की इच्छा रखता है।"* वृत्ति के सम्बन्ध मे दो-चार बातें मोटे तौर से ध्यान मे रखने योग्य हैं। प्रमुख बात है—वृत्ति से संचालित क्रिया सीखी नहीं जाती। यह जन्मजात होती है। जीवित प्राणियों मे यह जन्म से मौजूद होती है। इसे वृत्यात्मक क्रिया कहते हैं। बतख बिना सीखे तैरता है। पक्षी घोसला बनाता है। बालक बालू और मिट्टी का घरौंदा बनाता है। दूसरी बात यह है कि जब कभी वृत्ति जाग्रत होती है, उससे सम्बन्धित संवेग का भी अनुभव अवश्य होता है। पलायन-वृत्ति के साथ भय का संवेग है, काम-वृत्ति के साथ काम का और विद्रोह-वृत्ति के साथ क्रोध का संवेग है। मैकडूगल के इस सिद्धान्त का ड्रीवर और रीवरस् ने खण्डन किया है। उनका

* "An instinct is an inherited or innate psychophysical disposition which determines its perciever, to pay attention to, to experience an emotional excitement of a particular quality upon percieving such an object, and to act with regard to it in a particular manner, or at least to experience an impulse to such action."

Outline of Psychology
Mc. Dougall

कहना है कि वृत्ति के साथ संवेग का होना अनिवार्य नहीं है। जब वृत्ति की तुष्टि मे प्रतिबन्ध आता है तभी संवेग जाग्रत होता है। कोई खतरे की चीज सामने आई, पलायन वृत्ति जाग्रत हुई और वह भाग खड़ा हुआ। भय के संवेग का संचार नहीं हुआ। बल्कि ऐसी परिस्थिति मे संवेगात्मक पक्ष दब जाता है। जब प्राणी खतरे के समय मे भागने मे असफल हो जाता है तभी उसमे भय के संवेग का संचार होता है। तीसरी बात यह है कि वृत्ति किसी जाति या वर्ग की विशेषता नहीं है। पृथक् रूप मे विकास होने के कारण इसके प्रदर्शन मे पृथक्ता आ सकती है। चौथी बात यह है कि वृत्यात्मक क्रियाएँ प्रयोजन से होती हैं। ये यान्त्रिक नहीं कही जा सकतीं। भोजन की वृत्ति का प्रयोजन है शरीर की रक्षा करना, काम-वृत्ति का प्रयोजन है जाति की रक्षा करना और समूह-वृत्ति का प्रयोजन है समाज की नींव डालना और संघटन लाना। किन्तु व्यवहारवाद का सिद्धान्त इस प्रयोजनवाद से भिन्न है। व्यवहारवाद के अनुसार वृत्ति केवल सहज क्रियाओं (रिफ्लेक्स) का समुदाय है। यह कोई भिन्न प्रेरणा या क्रिया नहीं है। हर्बर्ट स्पेन्सर का कथन है कि वृत्ति और सहज क्रिया मे भेद नहीं होता। दोनों ही जन्मजात होती हैं और आत्म-रक्षा के लिए आवश्यक होती हैं। किन्तु यह समझना कि वृत्ति और सहज क्रिया एक है, ठीक नहीं है। वृत्ति और सहज क्रिया मे भेद हैं—

१. वृत्ति जटिल क्रिया है। इसमे मस्तिष्क क्रियमाण रहता है। सहज क्रिया मे उत्तेजन मस्तिष्क तक नहीं पहुँचता। ज्ञानवाही तन्तु (सेन्सरी नर्व) द्वारा मेरु-दण्ड (स्पाइनल कार्ड) तक सूचना जाती है और क्रियावाही तन्तु (मोटर नर्व) द्वारा प्रतिक्रिया हो जाती है। आँख मलकाना, छींकना, सूई चुभने पर हाथ खींच लेना इत्यादि सहज क्रियाएँ हैं। इनकी चेतना हमे नहीं रहती। ये यान्त्रिक रूप से चलती रहती हैं।

२. उत्तेजन के न रहने पर भी वृत्ति क्रियमाण रहती है; सहज क्रिया उत्तेजन के रहने पर ही होती है। तेज रोशनी मे पलक बार-बार झपती है और तीखी मिर्च की महक लगने पर ही छींक आती है।

३. वृत्ति मे परिवर्तन-परिवर्धन होता है; सहज क्रिया मे नहीं होता।

सामान्य रूप से वृत्तियों को तीन वर्ग मे रखा जा सकता है—आत्म-रक्षा सम्बन्धी, जाति-रक्षा सम्बन्धी और समाज सम्बन्धी। किन्तु मैकडूगल के अनुसार वृत्ति चौदह प्रकार की होती हैं: पलायन-वृत्ति, विद्रोह-वृत्ति, मातृ-वृत्ति, काम-वृत्ति, जिज्ञासा-वृत्ति, आत्म-प्रतिपादन-वृत्ति, समूह वृत्ति, रचना-वृत्ति, प्राप्त-वृत्ति, घृणा-वृत्ति, भोजन-वृत्ति, आत्महीनता-वृत्ति, संवेद-वृत्ति और हास्य-वृत्ति। इनमे से जिनका महत्व शिक्षा की दृष्टि से विशेष है उनका उल्लेख करना आवश्यक है।

जहाँ खतरा मालूम पड़ता है वहाँ से हम हट जाना आवश्यक समझते हैं। बंदर को देख कर हम भागते हैं, यह पलायन-वृत्ति है।

पलायन-वृत्ति

आत्मरक्षा के लिए पलायन-वृत्ति आवश्यक है। पलायन-वृत्ति के कारण हम अपने को भयंकर पशु या भयंकर घटना से बचा लेते हैं। पलायन-वृत्ति के साथ भय का संवेग होता है।

बालक के भय का संवेग तीव्र होता है। यह शैशवावस्था से ही रहता है। जब वह चार या छः माह का रहता है तभी ऐसी मुद्राएँ बनाता है जो भय के स्पष्ट लक्षण हैं। वह तेज और अपरिचित आवाज सुन कर भयभीत हो रोने लगता है। मिट्टी या कागज का भयानक चेहरा बना देख कर डरता है। माता-पिता तथा शिक्षक प्रायः इस कमजोरी का

भय और शिक्षा

अनुपयुक्त लाभ उठाना चाहते हैं। वे समझते हैं कि भय दिखा कर बालक से जो चाहे सो कराया जा सकता है और उसे सिखलाया जा सकता है। दूध पिलाने के समय बच्चे से माँ कहती है 'दूध पी लो नहीं तो बंदर आकर

तुम्हें उठा ले जायगा'। जब बालक सबक याद नहीं करता, शिक्षक उसे मेज पर खड़ा होने की सजा देते हैं। दर्जे से बाहर निकालने की धमकी देते हैं; यह भी कि माता पिता के पास शिकायत भेजी जायगी और वह पीटा जायगा। परन्तु माता-पिता और शिक्षक का ऐसा व्यवहार अनुचित है। इसका बालक के मानसिक विकास पर बुरा प्रभाव पड़ता है। इस संबंध मे दो मनोवैज्ञानिक बातें हैं जिनकी ओर माता-पिता तथा शिक्षक को ध्यान देना आवश्यक है—

१. बालक पर भय के निर्देशन का बुरा प्रभाव पड़ता है। इससे उसके भय का संवेग असाधारण रूप से तीव्र हो जाता है और जिस वस्तु से उसे भयभीत नहीं होना चाहिये उससे भी वह डरने लगता है। माँ के बार बार कहने पर 'बेटा अँधेरे में अकेले न जाओ, रामू तुम्हें रोशनी दिखला देगा और तुम्हारे संग जायगा', वह अँधेरे से ही नहीं डरता, कहीं भी अकेले जाने मे उसे भय लगने लगता है। परीक्षा के प्रति भय का निर्देशन देने से बालक के मन मे परीक्षा के प्रति भय का भाव उत्पन्न हो जाता है और इससे बालक अध्ययन मे उन्नति नहीं कर पाता। माता-पिता और शिक्षक को सदैव इस बात का ध्यान रखना है कि बालक के भय का संवेग उत्तेजित न हो।

२. बालक मे भय का भाव पैदायशी होता है। यह उसका प्रकृत स्वभाव है। इसी कारण बालक को डरानेवाला खेल बहुत प्रिय होता है। प्रायः तीन चार वर्ष के बालक को 'शेर, शेर! भागो! भागो!' का खेल खेलते हुए देखा जाता है। जब उत्तेजन नहीं मिलता तब भी भय का भाव भीतर रहता है और किसी न किसी रूप मे प्रकट होता रहता है। यह तो स्वभाव की बात है। इसे हटाया नहीं जा सकता। परन्तु 'फिअर शॉक' देकर भय के भाव को बढ़ाना और गहरा करना अस्वास्थ्यप्रद है, विशेष रूप से उन बालकों के लिए जो स्वभाव से डरपोक हैं और मानसिक दृष्टि से दुर्बल हैं। भारतीय परिवार मे बच्चों

से भूत-प्रेत की कहानी कहने की प्रथा है। भूत काले रंग का होता है और अँधेरे सूनसान जगह मे रहता है। इस तरह का 'फिअर शॉक' देने से बालक मानसिक दुर्बलता से त्रस्त होने लगता है। मानसिक विकास ठीक नहीं हो पाता। अपना व्यक्तिगत अस्तित्व वह खो देता है। किसी कार्य मे अगुआ बनने के लिए वह अयोग्य हो जाता है। हीनत्व-ग्रन्थि पड़ जाती है। मानव स्वभाव को देखकर मनोवैज्ञानिकों का सुझाव है कि शिक्षा मे भय को उत्तेजित करने की प्रथा नहीं होनी चाहिए। शिक्षकों ने भी अब यह मान लिया है कि किसी भी रूप मे 'फिअर शॉक' देने से बालक का मानसिक विकास रुक जाता है। यदि बालक मे उच्छृंखलता बहुत बढ़ गयी है और बिना उसे डराये काम नहीं चलता तो ऐसी स्थिति मे भय का परिमार्जित रूप मे सहारा लेना चाहिए। आदरमिश्रित भय बुरा नहीं है। शिक्षक के प्रति यदि बालक मे भय है तो कुछ हद तक इससे अध्ययन मे रुचि उत्पन्न की जा सकती है।

विद्रोह-वृत्ति

जिस प्रकार मनुष्य मे पलायन-वृत्ति होती है उसी प्रकार उसमे विद्रोह-वृत्ति भी होती है। जब वह किसी वस्तु को चाहता है और वह वस्तु उसे नहीं मिल पाती तब उसमे विद्रोह-वृत्ति उत्तेजित होती है। इस वृत्ति के साथ क्रोध का संवेग होता है। विद्रोह-वृत्ति उत्तेजित होते ही क्रोध का संवेग उठता है। जब मातृ-वृत्ति कार्य नहीं करती तब विद्रोह-वृत्ति विशेष रूप से उत्तेजित होती है। इस वृत्ति का परिमार्जन आवश्यक है। यह ठीक नहीं है कि मानसिक विकास के बाद भी यह प्रकृत रूप मे ही रह जाय। शिक्षा द्वारा विद्रोह-वृत्ति का परिमार्जन करके इसका उपयोग समाज के उपकार के लिए किया जा सकता है। मित्र और सगे सम्बन्धी से झगड़ा करना सामाजिक और व्यक्तिगत दृष्टि से ठीक नहीं है। यदि इसका उपयोग व्याकरण की गुत्थी, दर्शन का तथ्य

और गणित की समस्या सुलझाने मे किया जाय तो उत्तम है। महात्मा गांधी ने जीवन पर्यन्त अंग्रेजी सत्ता के विरुद्ध आवाज उठायी और हिंसकों के प्रति विरोध किया। हरिजनों का उद्धार और सत्य का प्रचार चाहा। यह सब विद्रोह-वृत्ति का ही परिमार्जित रूप था। सामाजिक दृष्टि से देश का उपकार हुआ और व्यक्तिगत दृष्टि से उनका जीवन सबके लिए आदर्श बना। विद्रोह-वृत्ति रहने पर ही कोई व्यक्ति देश के दुश्मन का सामना कर सकता है। सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध विद्रोह करके उनका निवारण कर सकता है और वह वीर योद्धा बन सकता है। जिस व्यक्ति की विद्रोह-वृत्ति का परिमार्जन नहीं हुआ रहता वह क्रोधी और चिड़चिड़े स्वभाव का हो जाता है। साधारण-सी रोकथाम पर वह विद्रोह कर बैठता है। उसके व्यक्तिगत और कौटुम्बिक जीवन मे शान्ति नहीं रहती। उसमे दया, सहानुभूति और सहनशीलता का भाव नहीं उत्पन्न हो पाता। शिक्षा मे इस प्रकार की योजना रहनी चाहिए कि बालक की विद्रोह-वृत्ति का पूर्ण रूप से परिमार्जन हो सके। शिक्षा का कार्य इस वृत्ति को नष्ट नहीं करना है; और यह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सम्भव भी नहीं है। शिक्षा का कार्य केवल इस वृत्ति को परिशोधित करना है, ऊँचे स्तर पर उठाना है और एक विषय से दूसरे की ओर लगाना है। मित्रों तथा सगे सम्बन्धियों के स्थान पर देश के दुश्मन तथा विद्रोही के प्रति विद्रोह-वृत्ति उत्तेजित करना है।

इसी प्रकार जिज्ञासा-वृत्ति का भी जीवन को समृद्ध बनाने मे बहुत उपयोग है। विज्ञान के सभी आविष्कार जिज्ञासा से हुये हैं। जिसकी

जिज्ञासा-वृत्ति

जिज्ञासा-वृत्ति के विकास के लिये बचपन से साधन मिलता है वही रेडियो, टेलीफोन, हवाई जहाज इत्यादि का आविष्कार कर सकता है। जिज्ञासा-वृत्ति से प्रेरणा मिलने के कारण ही न्यूटन ने 'आकर्षण-सिद्धान्त' को ढूढ़ निकाला।

जिज्ञासा से दर्शन के गूढ़ तथ्यों पर—सत्य-असत्य, ईश्वर क्या है, संसार का निर्माण कैसे हुआ—मनन होता है।

जिस विषय-वस्तु के बारे मे बालक नहीं जानता, उसे समझने-जानने का उसमे कुतूहल होता है। कुतूहल होने के कारण उस वस्तु का विश्लेषण करके उसे समझने का वह प्रयत्न करता है। यदि जिज्ञासा की वृत्ति मनुष्य मे न होती तो वह सब वस्तुओं के बारे मे जानने के लिए उत्सुक न होता। शिक्षा की योजना ऐसी होनी चाहिये कि बालक के सम्मुख जो विषय प्रस्तुत हो उससे उसकी जिज्ञासा-वृत्ति को उत्तेजन मिले। उत्तेजन मिलने से वृत्ति का विकास होगा और अध्ययन मे रुचि होगी। पुस्तक के प्रति कुतूहल होने पर अध्ययन की ओर ध्यान लगता है। बालक विश्लेषण-संश्लेषण करता है और उसका बौद्धिक विकास होता है। यदि अध्ययन की ओर बालक की जिज्ञासा-वृत्ति जाग्रत नहीं होती तो उसका मन पाठ्य पुस्तक मे नहीं लगता। वह ऊब जाता है और जो कुछ जानता है वह भी भूल जाता है। शिक्षक को यह भी ध्यान मे रखना है कि जिस विषय मे बालक की उत्सुकता उत्पन्न करने का वह प्रयत्न करे वह व्यक्ति और समाज की दृष्टि से लाभप्रद हो। कुछ बालकों और युवकों की जिज्ञासा अश्लील साहित्य मे हो जाती है। इसका प्रभाव आचरण के निर्माण पर बुरा पड़ता है।

बालक स्वभाव से दूसरों पर हुकूमत करना चाहता है। वह अपने को श्रेष्ठ समझता है। सबका मुखिया बनना चाहता है। मित्रों और सगे सम्बन्धियों से अपने धन, ओहदा तथा तेज बुद्धि की बड़ी-बड़ी बात हाँकता है। यही आत्मप्रतिपादन की वृत्ति है। शिक्षक के द्वारा जब इस वृत्ति का परिशोधन हो जाता है तब यह व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के लाभ की होती है। इसका परिमार्जन हो जाने पर देश के उत्थान मे मनुष्य आत्मगौरव के भाव का अनुभव करता है।

आत्मप्रतिपादन-वृत्ति

उसे समाज की सेवा, पीड़ितों और असहायों की सहायता मे आत्म-तुष्टि मिलती है। मुखिया और कप्तान मे यदि इस वृत्ति का विकास पूर्ण-रूपेण नहीं हुआ है तो वे अपना कार्य योग्यता से नहीं कर सकते। कुटुम्ब मे जो बड़ा है यदि वह अपनी हुकूमत नहीं रखता तो उसके कुटुम्ब मे व्यवस्था नहीं रह सकती। इस वृत्ति के क्रियमाण रहने पर ही किसी का अपने पर विश्वास जमता है, वह अग्रभाग लेता है और उसमे आकांक्षा बढ़ती है। उन्नति मे यह सहायक होती है। जबतक आत्म-प्रतिपादन की वृत्ति प्रकृत रूप मे रहती है और इसमे संशोधन नहीं हुआ रहता, बालक अपने मे ही केन्द्रित रहता है। अपने रूप, गुण, धन मे भूला रहता है और अपने को ही सब कुछ समझता है।

आत्महीनता-वृत्ति

कुछ व्यक्तियों मे आत्मप्रतिपादन की वृत्ति तीव्र होती है और दूसरों मे आत्महीनता की। जब एक व्यक्ति दूसरे के पास अधिक धन-दौलत, शान-शौकत देखता है, यह सोचकर वह टप बैठ जाता है 'मैं दीन गरीब हूँ, मेरी पहुँच वहाँ कहाँ'। दूसरों को अधिक कुशल और प्रवीण पाने पर भी आत्महीनता की वृत्ति जाग्रत होती है। आत्महीनता की वृत्ति का आसाधारण रूप से तीव्र होना अस्वास्थ्यप्रद है। इससे मान-सिक विकास रुक जाता है, बुद्धि मन्द पड़ जाती है। 'मैं तुच्छ हूँ, हीन हूँ', यह भाव हर समय घेरे रहता है। अपमान-भ्रम उत्पन्न हो जाता है। आगे चलकर मानसिक रोग का शिकार भी वह बन जा सकता है। किन्तु जब आत्महीनता की वृत्ति परिमार्जित होकर साधारण रूप से क्रियमाण रहती है तब इससे लाभ होता है। समाज मे व्यवस्था बनी रहती है। जनता सरकार की आज्ञा का पालन करती है और राज्य का शासन सुचारु रूप से चलता है। सैनिकों को नायक की आज्ञा का पालन करना आवश्यक होता है। इस प्रकार इस वृत्ति का भी सामाजिक उपयोग है। ध्यान मे केवल यह रखना है कि जिस

व्यक्ति के प्रति आत्महीनता का भाव है वह इसका पात्र हो। आत्म-हीनता-वृत्ति का उत्तेजन हरेक व्यक्ति के प्रति नहीं होना चाहिये। शिक्षा मे दण्ड-प्रथा होने से बालक मे आत्महीनता-वृत्ति अनुचित रूप मे जाग्रत होती है और बालक मन मे अपने को तुच्छ और हीन समझने लगता है। हीनत्व-ग्रन्थि डाल लेता है। अध्ययन मे उन्नति नहीं करता और वह छोटे-मोटे अपराध करने लगता है। घर से यह कह कर जाता है कि वह पाठशाला जा रहा है; पाठशाला न जाकर सड़कों पर वह खेलता है। इस कारण शिक्षा-योजना यह ध्यान मे रखकर निर्धारित करनी चाहिये कि आत्महीनता-वृत्ति को अनुचित उत्तेजन न मिले।

समाज की उत्पत्ति और विकास का मुख्य श्रेय समूह-वृत्ति को है। इस वृत्ति से प्रेरित होकर जब मनुष्य को एकाकी जीवन अखरने लगा, वह साथी की खोज मे इधर-उधर निकला। प्रारम्भ मे दो-चार मिलकर रहने लगे और फिर धीरे-धीरे समाज का संघटन हुआ। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। उसका व्यक्तिगत अस्तित्व विशेष नहीं है। उसकी प्रकृति मे ही समाज के प्रति प्रेम है। जो बालक घर मे अकेला रहता है और उससे खेलने के लिए कोई साथी नहीं मिलता, वह व्यवहारकुशल नहीं बनता। उसमे आदान-प्रदान तथा दया-प्रेम-सहानुभूति के भाव का स्वस्थ रूप से विकास नहीं हो पाता। बचपन से ही 'समूह-खेल' खेलने से बालक मे समूह-वृत्ति का स्वास्थ्यप्रद विकास होता है। उसमे एक दूसरे के प्रति सहानुभूति का भाव उमड़ता है। इस कारण शिक्षा-योजना मे 'समूह-खेल' के लिए प्रोत्साहन देने की व्यवस्था अवश्य होनी चाहिये।

समूह-वृत्ति

काम-वृत्ति से एक वर्ग के व्यक्ति का आकर्षण दूसरे वर्ग के व्यक्ति की ओर होता है। पुरुष का आकर्षण स्त्री की ओर होता है और स्त्री का आकर्षण पुरुष की ओर होता है। कुछ व्यक्ति सहवर्गी भी होते हैं; अपने ही वर्ग के व्यक्तियों की ओर उनका झुकाव रहता है। काम-वृत्ति

जाति-रक्षा के लिए है। किंतु इसके समाधान पर समाज का प्रतिबन्ध रहता है। जिनमे यह वृत्ति अधिक तीव्र होती है और जो इसका समाधान असामाजिक रूप मे करते हैं वे आचरणहीन समझे जाते हैं। ऐसी अवस्था मे वे ही व्यक्ति अपने को समाज से संतुलित कर पाते हैं जिनकी काम-वृत्ति का परिमार्जन बचपन मे ही हो गया है। शिक्षा से काम-वृत्ति का परिमार्जन करने पर मनुष्य कलाकार बन सकता है और सुन्दर काव्य की रचना कर सकता है। वह समाज-सुधारक बन सकता है। उसके मन मे काम-ग्रन्थि नहीं पड़ सकती, न उसका मानसिक ह्रास ही होता है। जब काम-वृत्ति का परिमार्जन नहीं होता, समाज के प्रतिबन्ध के कारण दमन होता है, तब मनुष्य मानसिक दुर्बलता का शिकार बनता है। संवेग की दृष्टि से वह अस्थिर हो जाता है और उसका मन किसी काम मे नहीं लगता। दमन से काम-इच्छाएँ मन के निचले भाग मे चली जाती हैं। वहाँ वे और भी उग्र हो जाती हैं और उनका विस्फोट अवसर मिलते ही किसी न किसी रूप में अवश्य होता है। मानव के स्वभाव को देखते हुए इस वृत्ति का दमन नहीं होना चाहिए। परिमार्जन से व्यक्तित्व उच्चकोटि का बनेगा और शक्ति का उपयोग समाजोपयोगी कार्य मे हो सकेगा।

काम-वृत्ति

इसी प्रकार मातृ-वृत्ति का भी व्यक्तिगत और सामाजिक महत्व है। बच्चे की रुलाई सुनते ही माँ उठ बैठती है। एक व्यक्ति को दुखी देखकर दूसरा भी दुखी होता है। किसी का आर्त्त-नाद सुनकर उसकी सहायता के लिए वह दौड़ पड़ता है। मनुष्य के सामाजिक स्थायी भाव का विकास मातृ-वृत्ति पर निर्भर है। इसका विकास होने पर नैतिक उत्थान होता है और ऊँचे स्तर के आचरण का निर्माण होता है। इस कारण शिक्षा मे मातृ-वृत्ति के विकास के लिए पूर्ण रूप से प्रोत्साहन रहना चाहिये।

मातृ-वृत्ति

इस प्रकार मनुष्य के आचरण-निर्माण और उसके सर्वांग व्यक्तित्व-विकास के लिए शिक्षा द्वारा वृत्तियों का उपयुक्त विकास होना आवश्यक है। वृत्तियाँ जन्मजात होती हैं और इन्हें मेटा नहीं जा सकता। फिर भी इनका विकास पूर्णरूप से नहीं हुआ रहता। इनमे परिवर्तन लाया जा सकता है। आवश्यकतानुसार समय-समय पर ये सक्रिय हुआ करती हैं। जिस अवस्था मे जो वृत्ति सक्रिय होती है उस अवस्था मे उस वृत्ति को उपयुक्त उत्तेजन देना शिक्षक का कार्य है। अँग्रेजी मे कहावत है 'स्ट्राइक ह्वेन द आयरन इज हौट'। शिक्षक का कार्य वृत्तियों का परिशोधन करना है। कुशल राजगीर की तरह प्रकृत वृत्ति को सुसंस्कृत और व्यवस्थित करना है। वृत्तियाँ व्यक्तित्व के निर्माण के लिए ईंटे सदृश हैं। मानव का आचरण वृतियों पर निर्भर है। पशु की वृत्तियाँ प्रकृत रूप मे ही रह जाती हैं। इनमे संशोधन नहीं किया जा सकता। अपने प्रकृत वृत्ति का पशु गुलाम रहता है।

वृतियों मे दो प्रकार से परिवर्तन लाया जा सकता है। पहला दमन है और दूसरा परिमार्जन। मनोविज्ञान की पुस्तकों मे प्रायः चार प्रकार बतलाये गये हैं: दमन, विलयन, परिमार्जन और मार्गान्तीकरण। किन्तु विलयन तो दमन मे निहित है, क्योंकि वृत्ति पर प्रतिबंध करना दमन की ही पूर्वावस्था है। पहिले वृत्ति से संबंधित इच्छाओं पर प्रतिबन्ध किया जाता है और फिर वे दबा दी जाती हैं। परिमार्जन मे मार्गान्तीकरण हो जाता है। वृत्ति को एक विषय से दूसरे विषय की ओर लगाकर ही परिमार्जन किया जाता है। केवल यह ध्यान रखा जाता है कि जिस ओर वृत्ति को लगाना है वह विषय ऊँचे स्तर का हो।

शिक्षा-द्वारा वृत्ति का दमन कहाँ तक उचित है, यह विचारणीय प्रश्न है। आधुनिक वैज्ञानिकों ने दमन की प्रथा को निन्दनीय बतलाया है। यह सोचना गलत है कि वृत्ति का दमन करने से वृत्ति निष्प्रिभ हो जाती है, मृततुल्य हो जाती है, और फिर उस वृत्ति से उस

व्यक्ति की क्रियाएँ प्रभावित नहीं होतीं। वास्तव मे दमन करने से वह वृत्ति और भी बली और सक्रिय हो जाती है, भले ही वह ज्ञात मन से अज्ञात मन मे ठेल दी जावे। फ्रायड और उनके समर्थकों का कहना है कि दमन की हुई इच्छाएँ साधारण इच्छाओं से कहीं अधिक शक्तिशाली होती हैं। मन के निचले भाग मे इकठी होकर हम पर शासन करती हैं। जब मन के निचले भाग मे बहुत सी इच्छाएँ दबकर इकट्ठी हो जाती हैं तब भावना-ग्रन्थियाँ पड़ती हैं, और भावना-ग्रन्थियों के पड़ने से मनुष्य के व्यक्तित्व मे संतुलन नहीं रह जाता। इस कारण दमन के द्वारा वृत्ति मे परिवर्त्तन लाना हितकर नहीं है। माता-पिता और शिक्षकों को इस ओर ध्यान देना आवश्यक है। यह मनोवैज्ञानिक सुझाव है कि बालक पर कम से कम नियन्त्रण-पाबन्दी की जाय, और इस प्रकार का वातावरण रखा जाय कि उसकी वृत्ति का दमन न होवे।

दमन

वृत्ति मे परिवर्तन लाने के लिए परिमार्जन ही उत्कृष्ट है। परिमार्जन का अर्थ है—वृत्ति का विषय-वस्तु बदल कर नीचे स्तर से ऊँचे स्तर की ओर ले जाना जो समाज की दृष्टि से मान्य है। परिमार्जन से वृत्ति का हनन नहीं होता। केवल उसका मार्ग बदल दिया जाता है। जो बालक अच्छे वातावरण मे पलता है उसकी वृत्तियों का परिमार्जन आभ्यन्तरिक क्षेत्र मे यान्त्रिक रूप से अपने आप होता रहता है। परिमार्जन होने से वे समाजोपयोगी बनती हैं। वृत्ति पर विचार करते समय इस पर प्रकाश डाला जा चुका है। वृत्ति को किसी न किसी रूप मे तुष्ट होना है। बिना तुष्ट हुए वह मन मे पड़ी नहीं रह सकती। परिमार्जन से प्रकृत वृत्ति और सामाजिक परम्परा मे समझौता हो जाता है। संघर्ष नहीं होता। एक ओर वृत्ति से सम्बन्धित इच्छाएँ सन्तुष्ट हो जाती हैं और दूसरी ओर रूप बदल जाने के कारण उन पर समाज का प्रतिबन्ध नहीं रह जाता।

परिमार्जन

समाज की सभ्यता और संस्कृति के उत्थान के लिए वृत्ति का परिमार्जन आवश्यक है। अन्यथा मनुष्य आदिम निवासी ही बना रहता। फ्रायड के पारिभाषिक शब्द 'सब्लिमेशन' अथवा 'परिमार्जन' का प्रयोग केवल काम वृत्ति के सम्बन्ध मे है। इसका यह कारण है कि उन्होंने केवल काम-वृत्ति को मनुष्य के व्यवहार और व्यक्तित्व का प्रेरक माना है। वास्तव मे परिमार्जन सभी वृतियों का होता है।

वृत्ति पर प्रकाश डालने के पश्चात्, व्यवहार सम्बन्धी कुछ सामान्य प्रवृतियों की ओर ध्यान जाता है जिनका उल्लेख यहाँ करना आवश्यक है। वृत्ति और सामान्य प्रवृत्ति मे भेद यह है कि वृत्तियाँ विशेष प्रकार की होती हैं और एक विशेष स्थिति मे विशेष प्रकार के कार्य के लिए प्रेरित करती हैं; सामान्य प्रवृत्ति मे सामान्य व्यवहार होता है जिसमे एक साथ कई वृत्तियाँ क्रियमाण हो सकती हैं। सामान्य प्रवृत्तियाँ तीन प्रकार की हैं : अनुकरण, निर्देशन और खेल। कुछ मनोवैज्ञानिकों ने अनुकरण, निर्देशन और खेल को भी वृत्ति ही माना है। स्वभाव से ही मनुष्य अनुकरण करता है, दूसरों का निर्देशन मानता है और खेल की सामग्री देखकर खेलने के लिए आकुल हो उठता है। परन्तु मैकडूगल ने इन्हें केवल सामान्य प्रवृत्तियाँ (टेन्डेन्सीज) माना है, वृत्तियों के अन्तर्गत नहीं माना है। मैकडूगल के अनुसार हरएक वृत्ति का सम्बन्ध संवेग से अवश्य होता है; अनुकरण निर्देशन और खेल मे संवेग नहीं लगा रहता।

अनुकरण का अर्थ है—दूसरे को कोई कार्य करते देखकर उसी के अनुरूप कार्य करना। बालक मे प्रारम्भ से ही अनुकरण की सामान्य प्रवृत्ति होती है। वह अपने इर्द-गिर्द सगे-सम्बन्धी-कुटुम्बी को व्यवहार करते देखता है और बातचीत करते सुनता है; वह उनके ढंग को अपनाता है और टूटे-फूटे शब्दों मे बोलने का प्रयत्न करता है। उनके पहिनावे की तरह अपना पहिनावा रखता है। यदि माँ ने क्रोध दिखलाया तो वह

अनुकरण

उसी ढंग से अपने छोटे भाई-बहन पर क्रोध दिखलाता है। बचपन मे वह माता-पिता के साथ रहता है इस कारण वह माता-पिता का अनुकरण करता है। बाद मे शिक्षक के सम्पर्क मे आता है और उनका अनुकरण करता है। वह मित्र का भी अनुकरण करता है। कहावत है 'ए मैन इज़ नोन बाई द कम्पनी ही कीप्स'। शिक्षा की दृष्टि से बालक को प्रारम्भ से ही इस प्रकार के वातावरण मे रखना चाहिये जिससे उसको अनुकरण करने योग्य व्यक्ति मिलें। इससे वह अच्छी बातें सीखेगा। यदि माता-पिता का व्यवहार नम्र और आचरण आदर्श रहा तो बालक भी अपना व्यवहार और आदर्श ऊँचे स्तर का रखेगा; शिक्षक के आचरण पर अपना आचरण निर्धारित करेगा। बालक सभी व्यक्तियों के आचार-विचार व व्यवहार का अनुकरण नहीं करता। वह केवल उन्हीं व्यक्तियों का अनुकरण करता है जिनमे उसकी श्रद्धा होती है। माँ और शिक्षक के प्रति बालक की सबसे अधिक श्रद्धा होती है। इसी से इनका अनुकरण वह बहुत अधिक करता है।

अनुकरण दो प्रकार का होता है—प्रारम्भिक और प्रयोजनयुक्त। शैशवावस्था मे बालक जो कुछ अनुकरण करता है उसे प्रारम्भिक अनुकरण कहते हैं। प्रारम्भिक अनुकरण की पहली विशेषता यह है कि यह बालक की वृत्ति अथवा प्रकृत इच्छा की तुष्टि के लिए होता है। बालक मे भोजन की वृत्ति है। जिस प्रकार वह दूसरे व्यक्तियों को भोजन करते देखता है उसी प्रकार वह भी भोजन करना सीखता है। दूसरी विशेषता यह है कि बालक उन्हीं क्रियाओं का अनुकरण करता है जिनमें उसकी रुचि होती है। बालक की रुचि खेल मे है। वह मित्र को रैकेट से खेलते देखता है और उसी प्रकार खेलना सीखता है। बालक की रुचि भोजन बनाने मे नहीं है। माँ को रोज अँगीठी जलाकर भोजन बनाते देखकर भी वह माँ का अनुकरण नहीं करता। तीसरी विशेषता यह है कि बालक अपने व्यवहार मे उन क्रियाओं का अनुकरण करता है जिनके

बारे मे उसने कथा-कहानी सुनी है, चित्र देखा है। चौथी विशेषता यह है कि प्रारम्भिक अनुकरण जानबूझ कर नहीं किया जाता, अनजाने मे किया जाता है। यह व्यवहार का अनैच्छिक अनुकरण है। साधारण तौर से प्रारम्भिक अनुकरण बालक मे ही मिलता है। प्रौढ़ व्यक्ति मे कम मिलता है। शिक्षक ने 'अच्छा' तकिया कलाम बना रखा है। विद्यार्थी बार बार शिक्षक के व्याख्यान मे इस शब्द को सुनता है, वह अनजाने मे उस शब्द का प्रयोग उसी प्रकार करने लगता है और अपना भी तकिया कलाम बना लेता है। प्रारम्भ मे बालक का अनुकरण शारीरिक (बाइऔलोजिकल) स्तर पर होता है; बाद मे वह विचार-स्तर पर हो जाता है।

प्रयोजनयुक्त अनुकरण किसी विशेष उद्देश्य से होता है। यह जानबूझकर किया जाता है, अनजाने नहीं होता। प्रकृत इच्छा पर यह नहीं निर्भर होता। बालक की रुचि हो या न हो, यदि किसी उद्देश्य की पूर्ति होती है तो वह अनुकरण करता है। एक बालक किसी व्यक्ति को अमरूद के पेड़ पर चढ़ते और अमरूद तोड़कर खाते देखता है। अमरूद खाने के प्रयोजन से वह उसका अनुकरण करता है और उसी प्रकार पेड़ पर चढ़कर अमरूद लाता है। यदि बालक मे अमरूद पाने का प्रयोजन न होता तो वह उसका अनुकरण न करता।

अनुकरण की सामान्य प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करके बालक को बहुत कुछ सिखलाया जा सकता है। अनुकरण से किसी कार्य मे बहुत प्रयास नहीं करना पड़ता। प्रारम्भिक अनुकरण तो अपने आप ही होता है, प्रयास नहीं करना पड़ता। मानसिक या शारीरिक शक्ति का विशेष व्यय नहीं होता। प्रयोजन युक्त अनुकरण मे भी बाहरी बन्धन नहीं रहता। केवल अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए बालक अनुकरण करता है। अनुकरण से बालक के व्यक्तिगत जीवन मे लाभ पहुँचता है; विशेषकर ऐसी परिस्थिति मे जब वह आदर्श वातावरण मे रहता है।

मानसिक विकास पर अनुकरण का स्वास्थ्यप्रद प्रभाव पड़ता है। यह सोचना गलत है कि अनुकरण की सामान्य प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देने से बालक का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रह जाता और उसकी वैयक्तिक विशेषता का विकास नहीं हो पाता। वास्तव मे जैसा प्रोफेसर नन का भी कथन है 'अनुकरण की सामान्य प्रवृत्ति वैयक्तिक विशेषता की सीढ़ी है।' तो भी इसका अत्यधिक विकास अस्वास्थ्यप्रद होता है। जब मनुष्य का व्यवहार और आचरण अनुकरण की प्रवृत्ति से बहुत अधिक संचालित होता है तब उसकी व्यक्तिगत विशेषता नहीं रह जाती। वह जो कुछ देखता है वही करता है।

जिस प्रकार बालक मे अनुकरण की सामान्य प्रवृत्ति होती है उसी प्रकार उसमे निर्देशन ग्रहण करने की भी सामान्य प्रवृत्ति है। वह बिना सोचे-समझे और तर्क किये दूसरों के विचार सिद्धान्त को मान लेता है; विशेषकर ऐसी परिस्थिति मे जब निर्देशन ऐसे व्यक्ति की ओर से मिलता है जिसके लिए उसके मन मे आदर का भाव है। कुछ व्यक्तियों मे निर्देशन ग्रहण करने की प्रवृत्ति अधिक होती है और कुछ मे कम। सभी समान रूप से निर्देशन नहीं मान लेते। जिनमे आत्मप्रतिपादन की वृत्ति तीव्र रहती है और जो अपना स्वतन्त्र सिद्धान्त रखते हैं उन पर निर्देशन का प्रभाव नहीं होता; कम होता है। जिनमे आत्महीनता की वृत्ति तीव्र होती है उनमे निर्देशन की प्रवृत्ति भी तीव्र होती है।

निर्देशन

बालक विशेष रूप से निर्देशन मान लेता है। पहली बात यह है कि बालक का ज्ञान सीमित रहता है। वह नहीं जानता कि किस प्रकार वह दूसरे के विचार और धारणा पर आक्षेप करे। दूसरी बात यह है कि वह स्वभाव से प्रसन्नचित्त होता है। सब बात की तकियानुकूस नहीं करता। जो कुछ कहा जाता है उसे वह ठीक समझता है। तीसरे, बालक प्रवृत्तिशील होता है। जिसकी ओर उसके मन का झुकाव रहता

है उसकी बात वह तुरत मान लेता है। चौथी बात यह है कि वह अनुभवी नहीं होता। माता-पिता की बात अनुभव के कारण ठीक निकलती है इसलिए वह उसमे अन्धविश्वास करने लगता है। जब बालक का मानसिक विकास हो जाता है, ज्ञान और अनुभव प्राप्त कर लेता है, तब वह किसी की बात आसानी से नहीं मानता और तर्क-वितर्क करना शुरू कर देता है।

निर्देशन की सामान्य प्रवृत्ति का शिक्षा द्वारा उपयुक्त विकास करके उससे लाभ उठाया जा सकता है। जब बालक मे निर्देशन ग्रहण करने की सामान्य प्रवृत्ति का विकास हुआ रहता है, शिक्षा का कार्य सरल हो जाता है। शिक्षक के निर्देशन को बालक आसानी से मान लेता है। पाठशाला मे व्यवस्था रखने के लिए भी यह आवश्यक है कि वह शिक्षक का निर्देशन माने। सफलता से निर्देशन देने के लिए शिक्षक मे कुछ विशेषताओं का होना आवश्यक है। पहली विशेषता यह है कि बालक से वह मैत्री का व्यवहार रखे। दूसरी यह है कि शिक्षक अपने जीवन के रहस्य को बालक से स्पष्ट न कहे। जब उसका जीवन और व्यक्तित्व बालक के लिए रहस्यमय रहता है, उसे कुतूहल होता है और वह शिक्षक को एक बड़ा व्यक्ति मान कर उसका निर्देशन मानता है। तीसरी विशेषता यह है कि शिक्षक जिन आदर्शों को बालक के सम्मुख रखे उनमे उसकी स्वयं रुचि हो और उन्हें वह अपने जीवन मे चरितार्थ करता रहे। चौथी विशेषता यह है कि शिक्षक को अपने विषय का वृहद् ज्ञान हो। अपने धर्म और संस्कृति का भी उसे ज्ञान हो। पाँचवी विशेषता यह है कि शिक्षक अनुभवशील हो, शिक्षा क्षेत्र मे वह नया न उतरा हो। अनुभवी होने पर वह पथ-प्रदर्शक बन सकता है। इन सब विशेषताओं के रहने पर ही वह बालक के आदर-श्रद्धा और प्रेम का पात्र बन सकता है; और उसके निर्देशन का प्रभाव उस पर पड़ सकता है। किन्तु जब शिक्षक बहुत अधिक निर्देशन देता है तब बालक पर उसका उलटा

प्रभाव पड़ता है। शिक्षक के प्रति उसमे अवज्ञा का भाव उठता है और उसमे मौलिकता और अपना स्वतन्त्र विचार नहीं रह जाता।

अनुकरण और निर्देशन की सामान्य प्रवृत्तियों की तरह मानव मे खेल की भी प्रवृत्ति होती है। खेल की ओर बालक के मन का झुकाव जन्म से ही होता है। यह उसे सिखलाया नहीं जाता। खिलौना पाते ही वह उससे खेलने लगता है। खेल से उसे विश्राम मिलता है; थकान नहीं आती। खेल के द्वारा बालक की अपने को व्यक्त करने की इच्छा का पता लगता है। इसमे शरीर और मन का अपने आप व्यायाम हो जाता है। खेल एक स्वतन्त्र क्रिया है। यह प्रयोजन से नहीं की जाती। जब कोई क्रिया प्रयोजन से की जाती है तब उस क्रिया विशेष को खेल न कहकर कार्य कहते हैं। यही तो खेल और कार्य मे भेद है। जब शिक्षक को नियत समय पर पाठशाला मे उपस्थित होकर व्याख्यान देना पड़ता है और व्याख्यान के लिए उसे पैसा मिलता है तब उसकी उस क्रिया को कार्य कहते हैं। परन्तु यदि शिक्षक व्याख्यान देकर पैसा नहीं लेता और व्याख्यान देना उसकी इच्छा पर निर्भर है तब उसकी इस क्रिया को खेल कहते हैं। जब टेनिस का खिलाड़ी बिना किसी बन्धन के खेलता है तब तो खेल हुआ; और जब वह इसलिए खेलता है कि वह राज्य का नौकर है तब कार्य हुआ। खेल से ऊब जाने पर भी खेल मे भाग लेने से वह क्रिया खेल न रहकर कार्य हो जाती है।

खेल

खेल के सम्बन्ध मे दार्शनिक हर्बर्ट स्पेन्सर का 'अतिशय शक्ति का सिद्धान्त' (थ्योरी आफ सरप्लस एनर्जी) प्रसिद्ध है।* उनके अनुसार खेल वह क्रिया है जिसके द्वारा यह प्रदर्शित होता है कि शरीर मे बहुत-सी शक्ति इकट्ठी हो गई है और इस शक्ति का खेल के द्वारा व्यय

Herbert Spencer regarded play as a means of releasing an excess of energy.

करना आवश्यक है। जिस बालक मे जितनी फालतू शक्ति रहती है वह खेल मे अधिक भाग लेता है। हर्बर्ट स्पेन्सर के इस सिद्धान्त पर आक्षेप किया गया है। यह कहना व्यर्थ है कि खेल शरीर की बची हुई शक्ति को निकालने का एक तरीका है। पहली बात यह है कि बालक जब थक जाता है तब भी खेलता है। खेल से वास्तव मे केवल फालतू शक्ति का व्यय नहीं होता; खेल की क्रिया अधिक होने से शक्ति का ह्रास होता है। दूसरी बात यह है कि खेल एक बँधे हुए रूप व परिमाण मे खेला जाता है। यदि खेल केवल बची हुई शक्ति के व्यय के लिए होता तो खेल निश्चित रूप और परिमाण मे न होता। बालक कुछ देर तक खेलता है उसकी बची हुई शक्ति कम हो या अधिक। तीसरी बात यह है कि खेल से मानसिक, शारीरिक और नैतिक विकास होता है। इसका यही अर्थ होता है कि खेल केवल बची हुई शक्ति के व्यय के लिए नहीं होता, बल्कि इससे और भी लाभ हैं।

कार्ल ग्रूज ने खेल के शारीरिक उपयोग पर बल दिया है। खेल स्वास्थ्यवर्धक है और इसके द्वारा वातावरण से अच्छा सन्तुलन लाया जा सकता है। खेल मे भविष्य की बातों का नाटक खेला जाता है। प्रोफेसर स्टैनले हॉल के अनुसार खेल मे बीती हुई घटनाओं का प्रदर्शन अधिक होता है। मनुष्य मे जातिगत विशेषताएँ रहती हैं और वह उन्हें खेल के द्वारा व्यक्त करता है। बालक अपने खेल मे भविष्य की बातों का नाटक नहीं खेलता। वह बीती हुई बातों का नाटक अधिक खेलता है*। कार्ल ग्रूज़ ने खेल मे केवल भविष्य की घटनाओं का प्रदर्शन पाया। बीती हुई घटनाओं का इसमे रिहर्सल होता है यह नहीं बतलाया। इसी कारण स्टैनले हॉल ने कार्ल ग्रूज़ के खेल के सिद्धान्त पर आक्षेप किया और इसे आंशिक बतलाया।

*Play is reminiscent rather than anticipatory exercise.
Stanley-Hall.

खेल की क्रिया के बारे मे विभिन्न सिद्धान्त और धारणा होते हुए इतना सर्वमान्य है कि खेल की सामान्य प्रवृत्ति हरएक व्यक्ति मे होती है; इससे मानसिक विकास होता है और शरीर की गठन बनती है। खेल की प्रवृत्ति दबी रहने का अर्थ है कि बालक का मानसिक विकास उपयुक्त रूप से नहीं हुआ है और वह मानसिक दुर्बलता से त्रस्त है। शिक्षालयों मे बालकों को खेल के लिये पूरी तरह से प्रोत्साहन देना चाहिए। अच्छा यह हो कि शिक्षा का विषय भी खेल के रूप मे सिख-लाया जाय। मॉन्टेसरी और डॉल्टन शिक्षा-पद्धति मे खेल के ऊपर विशेष रूप से ध्यान दिया गया है और बहुत कुछ खेल ही से शिक्षा दी जाती है। मैडम मॉन्टेसरी का कथन है कि बालकों को खेल के द्वारा ही शिक्षा देनी चाहिये। इसका प्रभाव बालक के मानसिक विकास पर अच्छा पड़ता है। बालक अपने पर निर्भर होना सीखता है। सब कार्य मे अग्रशील होता है और उसकी एकाग्र-शक्ति बढ़ती है। वह अपने प्रति आदर का भाव उत्पन्न करता है और दूसरों का भी आदर करना सीखता है। खेल मे स्वतन्त्रता रहने से वह अपने कार्य का आप ही आलोचक बनता है। मॉन्टेसरी ने देखा कि बालक खेल मे बड़े उत्साह के साथ भाग लेता है; और जब उसे पढ़ने के लिए पाठशाला भेजा जाता है तो उसे बड़ा बोझ सा मालूम पड़ता है। उनके मन मे यह विचार उठा कि अच्छा हो यदि पाठशाला को खेल का स्थान बना दिया जाय। तभी बालक उत्साह के साथ पाठशाला जायगा।

मॉन्टेसरी शिक्षा-पद्धति मे बच्चों को खिलौनों द्वारा शिक्षा दी जाती है। खेल मे ही वस्तुओं के नाम, रूप-रंग, दूरी आदि का वह ज्ञान कर लेता है। बालक को त्रिकोण-चौकोण इत्यादि आकार के ब्लौक्स और फार्मबोर्ड जिसमे उन्हीं आकार की कटान होती हैं दिये जाते हैं। बालक खेल मे सब आकार का ज्ञान कर लेता है। संख्या जानने के लिये मोती पिरोकर लकड़ी मे तार लगा रहता है। वर्णमाला के

लिये चित्र की पुस्तकें रहती हैं। यह सब व्यवस्था इसलिये की जाती है कि बालक स्वतन्त्र रूप से खेल मे सब सीख जाय। मॉन्टेसरी शिक्षा-पद्धति में बालकों के लिये टाइम-टेबुल नहीं रहता। कक्षा भी नहीं लगती। बालक स्वतन्त्रता से जो चाहता है करता है। केवल एकत्र होकर कुछ कार्य करने का आयोजन अवश्य रहता है, जैसे बाग लगाना, व्यायाम करना, नाटक करना, संगीत मे भाग लेना इत्यादि। इन सब कार्यों के लिये समय और स्थान निश्चित रहता है।

खेल और शिक्षा

मॉन्टेसरी शिक्षा-पद्धति मे शिक्षक का कार्य एक निरीक्षक सा रहता है। मित्र की तरह वह बालक के खेल को देखता है। उसमे भाग लेता है। वह सहायक का कार्य करता है। यद्यपि वह बीच मे हस्तक्षेप नहीं करता, फिर भी वह सक्रिय रहता है, निष्क्रिय नहीं रहता। जब आवश्यकता पड़ती है बालक की मदद करता है। शिक्षक बराबर ध्यान रखता है कि खेलने के लिए जो योजना बनाई गई है उसीके अनुरूप बालक खेलता है। वह देखता रहता है कि बालक सिलेन्डर को ठीक छेद में रखता है, सीढ़ी से ठीक संख्या सीख रहा है, रंगीन टैब्लेट्स ठीक से रख रहा है इत्यादि। यदि बालक गलत रास्ता लेता है तो शिक्षक उसे ठीक रास्ते पर लाता है। शिक्षक को बालक की उन्नति का विवरण भी रखना पड़ता है। वह बराबर यह ध्यान मे रखता है कि कब दो-चार शब्द बोलना चाहिये जिससे बालक लाभ उठावे।

मॉन्टेसरी शिक्षा-पद्धति के समान ही डॉल्टन शिक्षा-पद्धति मे भी बच्चों को बहुत स्वच्छंदता दी जाती है। बालक जिस समय जो विषय चाहता है पढ़ सकता है। यह खेल द्वारा शिक्षा देने का दूसरा तरीका है। यह पद्धति पुरानी शिक्षा-प्रणाली के विरोध मे निकली। इसमें नियमित टाइम-टेबुल नहीं रहता और न यही नियत रहता है कि इतने समय मे इतना सीखना है। बालक अपनी

इच्छानुसार जिस विषय को जितनी देर चाहता है पढ़ता है। यदि बालक की रुचि गणित में है तो वह गणित के प्रश्न हल करता है; यदि वह साहित्य का अध्ययन करना चाहता है तो साहित्य पढ़ता है। सब विषय पढ़ाने के लिए कक्षाएँ लगी रहती हैं। जिस विषय को पढ़ने की बालक को इच्छा होती है वह उस कक्षा मे जाकर पढ़ता है। यहाँ भी कोई शिक्षक नहीं होता; कठिनाइयाँ हल करने के लिए सहायक होते हैं। इस प्रकार पाठशाला में व्यक्तिगत शिक्षा की योजना होती है। इससे बालक के व्यक्तित्व का उच्चतम विकास संभव है। प्रतिबन्ध केवल यह रहता है कि बालक को मासिक और साप्ताहिक असाइनमेन्ट करना अनिवार्य होता है; और इससे लाभ यह होता है कि स्वच्छन्दता रहते, ज्ञान प्राप्ति का कार्य स्थगित नहीं होता। बालक स्वच्छन्द रहते बहुत कुछ सीख जाता है। अभिनय-पद्धति मे बालक इतिहास के महानुभावों की जीवनी के आधार पर अभिनय करके बहुत कुछ सीखता है। इससे उसे केवल इतिहास का ही ज्ञान नहीं होता; इसका प्रभाव उसके चरित्र पर भी स्थायी रूप से पड़ता है। इस प्रकार बालक को इतिहास की घटना रटनी नहीं पड़ती।

इस तरह बालक मे खेल की जो सामान्य प्रवृत्ति है उसके द्वारा शिक्षा का कार्य सरल-सुगम बनाया जा सकता है।

संवेग

मन के तीन पहलू होते हैं—बोधात्मक, क्रियात्मक और भावात्मक। इनके बिना मन की कल्पना नहीं की जा सकती। संवेग मे भावात्मक पहलू की प्रधानता रहती है। जब प्रिय-अप्रिय का भाव किसी कारण-वश प्रबल हो जाता है तब संवेग की उत्पत्ति होती है। यह तीव्र भाव के अनुभव की अवस्था है।* इसका संबंध किसी वस्तु, व्यक्ति या विचार से अवश्य रहता है। संवेग की विशेषताएँ निम्नलिखित भाँति हैं और इनके द्वारा इसके स्वरूप और धारणा का ठीक अनुमान किया जा सकता है।

१. संवेग का अस्तित्व भाव मे है।

२. यह व्यक्तिगत अनुभव है।

३. इसका अनुभव सबको होता है।

४. इसका प्रदर्शन शारीरिक क्रियाओं के रूप मे होता है।

५. इसका संबंध वृत्ति से घनिष्ठ है। और

६. इसका आरोपण होता है।

पहली विशेषता है कि बिना भाव के संवेग नहीं हो सकता। भाव साधारण अनुभव होता है। जब भाव तीव्र हो जाता है तब क्रोध, घृणा, भय, प्रेम इत्यादि के संवेग होते हैं। प्रातःकाल का समय है। ठंडी हवा बह रही है। फाफामऊ के पुल की ओर सैर के लिए मोटर से कोई जा रहा है। उसका मन है शान्त और प्रसन्न। एकाएक वर्षों से बिछुड़ा मित्र दिखाई पड़ जाता है। मन मे प्रेम का संवेग उमड़ आता है। प्रेमाश्रु छलछला आते हैं और वह मोटर रोककर लिपट जाता है।

दूसरी विशेषता यह है कि एक ही वातावरण मे दो व्यक्ति दो प्रकार

* "Emotion is the stirred up state of feeling."

के संवेग का अनुभव करते हैं। खेल मे जिस दल की जीत होती है उस दल के व्यक्ति प्रसन्न होते हैं और जिस दल की हार होती है उस दल के व्यक्ति उदास होते हैं। महामारी फैलने पर डॉक्टर आमदनी का साधन देखकर प्रसन्न होता है और रोग-ग्रस्त प्राणी और उसके कुटुम्बी दुखी होते हैं। अपशब्द सुनकर किसी को कहनेवाले की नादानी पर दया आती है और कोई त्योरियाँ बदलने लगता है। इस प्रकार संवेग व्यक्तिगत अनुभव है—यह नहीं कि एक व्यक्ति प्रसन्न है तो दूसरा व्यक्ति भी प्रसन्न होगा, एक व्यक्ति दुखी है तो दूसरा व्यक्ति भी दुखी होगा, एक क्रोधित है तो दूसरा व्यक्ति भी क्रोधित होगा।

संवेग की तीसरी विशेषता है कि यह एक सामान्य अनुभव है। सभी इसका अनुभव करते हैं। यह नहीं कि कोई व्यक्ति संवेग का अनुभव करता है और कोई व्यक्ति संवेग का अनुभव नहीं करता। हाँ यह संभव है कि कोई इसका अनुभव अधिक करता हो और कोई कम। किसी मे संवेग आसानी से उत्पन्न होता है और किसी मे नहीं। सब परिस्थिति मे वह शान्त और सौम्य रहता है। साधारण सी बातपर वह क्रोध से नहीं तमतमाता; प्रेम मे विभोर होकर अपनी सत्ता नहीं भूलता। साधारण-सामान्य अनुभव रहते, सब व्यक्तियों मे एक ही संवेग की प्रधानता नहीं रहती। किसी मे क्रोध की प्रधानता रहती है; किसी मे भय की; किसी मे प्रेम की। किन्तु हरेक व्यक्ति मे किसी न किसी संवेग की प्रधानता अवश्य रहती है।

चौथी विशेषता है कि जब कभी संवेग उत्पन्न होता है शरीर मे कुछ न कुछ परिवर्त्तन अवश्य होता है। क्रोध का संवेग उठने पर मुँह लाल हो जाता है, मुट्ठी बँध जाती हैं और शरीर मे रक्त तेजी से बहने लगता है; प्रेम के संवेग मे हृदय धड़कने लगता है; भय के संवेग मे हाथ-पैर काँपने लगते हैं, नाड़ी की गति धीमी हो जाती है और हृदय की धड़कन भी बढ़ जाती है। यह सब शरीर सम्बन्धी बाहरी परिवर्त्तन

हैं। संवेग मे शरीर के भीतर भी परिवर्त्तन होते हैं। क्रोध मे ऐड्रीनल पिण्ड से अधिक रस का प्रवाह होता है जिसके कारण समूचे शरीर मे अजब जोश आ जाता है। भय मे गैस्ट्रिक रस कम बहता है जिससे पाचन-क्रिया अपना काम बन्द कर देती है। यह निष्कर्ष पशुओं पर प्रयोग करके निकाला गया है। इस प्रकार शरीर के बहिरंग और अन्तरंग दोनों भागों की क्रियाओं के द्वारा संवेग का प्रदर्शन किसी न किसी प्रकार अवश्य होता है। संवेग और शरीर के परिवर्तन मे जो सम्बन्ध है उसके लिये जेम्स और लैंग का सिद्धान्त बहुत प्रसिद्ध है। जेम्स और लैंग दोनों ही मनोवैज्ञानिकों ने एकमत होकर यह निष्कर्ष निकाला है कि संवेग के कारण शरीर मे परिवर्तन नहीं होता; शरीर मे परिवर्तन होने पर संवेग की उत्पत्ति होती है। जब कोई व्यक्ति किसी को पीड़ा मे पाता है, पहले उसकी आँखों से आँसू बहते हैं और तब उसमे दया का संवेग उठता है। दुश्मन को देखकर पहले मुख तमतमा उटता है, मुट्ठियाँ बँध जाती हैं और तब क्रोध का संवेग उठता है। दूसरे वर्ग के व्यक्ति को देखकर पहले हृदय मे धड़कन होती है और तब प्रेम का संवेग उठता है। सारांश यह है कि शरीर मे उथल-पुथल होने के कारण एक विशेष प्रकार की अनुभूति होती है, वही संवेग है। किन्तु जेम्सलैंग का यह सिद्धान्त ठीक नहीं है कि पहले शरीर मे परिवर्त्तन होते हैं और तब संवेग का अनुभव होता है। प्रयोग द्वारा इसकी पुष्टि हो चुकी है। रिंटन ने कुत्ते पर प्रयोग किया। पहले उन्होंने एक कुत्ते की सब नसों को काट दिया जिनके द्वारा शरीर के भीतरी अंगों मे परिवर्त्तन होने की सूचना मस्तिष्क तक पहुँचती थी। नस काटने पर भी रिंटन ने देखा कि कुत्ते के अनुभव मे किसी प्रकार का परिवर्त्तन नहीं हुआ। भय, क्रोध और अन्य संवेगों का कुत्ता अनुभव करता रहा। रिंटन ने बिल्ली पर भी प्रयोग किया और अब उसके विचार-सिद्धान्त की और भी पुष्टि हो गयी।

संवेग की पाँचवीं विशेषता है कि यह सदैव वृत्ति के साथ उत्पन्न होता है। इस बात पर मैकडूगल ने विशेष रूप से बल दिया है। मैक-डूगल के अनुसार मानव मे चौदह प्रकार की वृत्तियाँ होती हैं और हर एक मुख्य वृत्ति से सम्बन्धित उसके साथ संवेग अवश्य होता है। पला-यन-वृत्ति के साथ भय का संवेग है; विद्रोह वृत्ति के साथ क्रोध का संवेग है; और काम-वृत्ति के साथ प्रेम का संवेग है। इस प्रकार संवेग और वृत्ति का सम्बन्ध सिक्के के दो तरफ का-सा है। शेर ऐसे भयानक पशु को देखकर किसी व्यक्ति के मन मे पलायन-वृत्ति जाग्रत होती है और साथ ही भय का संवेग भी उठता है और बस वह व्यक्ति भाग खड़ा होता है। जब हमारी कोई आभ्यन्तरिक माँग पूरी नहीं हो पाती, विद्रोह-वृत्ति जाग्रत होती है और साथ ही क्रोध का संवेग उठता है। काम-वृत्ति के जाग्रत होने के साथ ही प्रेम का संवेग उमड़ता है। इस प्रकार वृत्ति और संवेग का सम्बन्ध अनिवार्य्य है। पर हाँ, इनके स्वभाव मे भेद है: संवेग मे भाव की प्रधानता होती है और वृत्ति मे ज्ञान और क्रिया की।

संवेग की छठवीं विशेषता यह है कि इसका आरोपण किसी न किसी विषय-वस्तु या व्यक्ति पर अवश्य होता है। ऐसा कभी नहीं होता कि संवेग का अनुभव बिना विषय-वस्तु या व्यक्ति के हो।

संवेग कई प्रकार के होते हैं। फ्रायड के अनुसार मनुष्य मे केवल प्रेम का संवेग होता है। अन्य संवेग इसी के विभिन्न रूप हैं। मैकडूगल के अनुसार संवेग चौदह प्रकार* के होते हैं। कभी तो मनुष्य प्रेम के संवेग का अनुभव करता है, कभी घृणा का, कभी आत्मगौरव का और कभी हीनत्व का। जब सब संवेग व्यवस्थित रहते हैं, एक संवेग

* **संवेग के प्रकार—भय, क्रोध, घृणा, वात्सल्य, प्रेम, आश्चर्य्य, हीनत्व, आत्माभिमान, एकाकीपन, भूख, अधिकार, रचना, आनन्द, आमोद।**

दूसरे संवेग पर आधिपत्य नहीं करता, मनुष्य के आभ्यन्तरिक क्षेत्र मे किसी प्रकार का विद्रोह नहीं होता। विद्रोह-संघर्ष तभी होता है जब कोई भी संवेग अनुपयुक्त रूप से तीव्र हो जाता है और मनुष्य उसी के भाव-लहरी मे बहने लगता है। यदि आत्मगौरव का भाव है तो सदैव यही विचारेगा 'मै यह कार्य नहीं कर सकता, इसमे मेरा अपमान है'। हीनत्व-भाव मे बहने पर सोचेगा 'मेरी क्या हस्ती ! मै निकम्मा हूँ। मेरे पास न पैसा है न बुद्धि'।

मनुष्य का आचरण संवेग पर निर्भर है। जिस व्यक्ति के संवेग का परिमार्जन हो जाता है उस व्यक्ति मे अच्छे स्थायी भाव की नीव पड़ती है और इस प्रकार उस व्यक्ति का आचरण सभ्य और सुसंस्कृत होता है; जिस व्यक्ति के संवेग का परिमार्जन नहीं होता उसमे अच्छे स्थायीभाव नहीं बनते और वह प्रवृत्ति-शील होता है और प्रकृत रूप मे व्यवहार करता है।

संवेग और शिक्षा

शिक्षा से संवेग का परिमार्जन किया जा सकता है। कोई भी संवेग अपने मे अवांछनीय नहीं है। संवेग का वांछनीय या अवांछनीय होना इस बात पर निर्भर है कि यह किस स्थिति मे जाग्रत हुआ है और किस व्यक्ति के प्रति। माँ किसी और पर खीझी है और अपना क्रोध बालक पर दिखलाती है, यह ठीक नहीं है। जब वह बालक को चोरी करते देखकर क्रोधित होती है तब उसका क्रोध का संवेग ठीक है। किसी पर-वर्गी को देखकर काम भावना का जाग्रत होना अवांछनीय है; धर्म के प्रति आस्था रखना, देश के प्रति अनुराग का होना और काव्य की रचना करना वांछनीय है। आत्मगौरव का अनुभव अपने लिए न करके देश और जाति के लिए करना उत्कृष्ट है। आश्चर्य्य का संवेग निम्न और निकम्मी चीजों के लिए ठीक नहीं है; नये-नये तत्वों की खोज मे रहने पर मनुष्य बड़ा वैज्ञानिक और आविष्कारक बन सकता है। प्रजा का सरकार के प्रति, सिपाही का नायक के प्रति और मनुष्य का समाज

के प्रति हीनत्व का संवेग वांछनीय है। इससे व्यवस्था रहती है। किन्तु निर्धन का धनी के प्रति हीनत्व का संवेग इस आधार पर कि वह धनी है, अवांछनीय है।

उपरोक्त दृष्टान्तों से यह निष्कर्ष निकलता है कि हरएक संवेग का अपना महत्त्व और मूल्य है। परिमार्जन और मार्गान्तीकरण करके उसमे उपयुक्त परिवर्तन लाया जा सकता है—अनुपयुक्त व्यक्ति, वस्तु और विचार की ओर से हटाकर उपयुक्त व्यक्ति, वस्तु और विचार की ओर लगाया जा सकता है। शिक्षा से केवल आध्यात्मिक विकास नहीं करना है; संवेगात्मक अवस्था मे भी आदर्श परिवर्तन लाना है—ज्ञानात्मक विकास के साथ संवेगात्मक विकास भी आवश्यक है। इससे व्यक्तिगत और सामाजिक दृष्टि से बहुत लाभ उठाया जा सकता है। जब संवेग का सम्बन्ध इस प्रकार के व्यक्ति, वस्तु और विचार से रहता है जो समाज की दृष्टि से मान्य है तब अच्छे आचरण का निर्माण होता है; और जब नहीं रहता, मनुष्य आदिम रह जाता है। व्यक्तित्व मे विच्छेद हो जाता है। मनुष्य अपने को वातावरण से संतुलित नहीं कर पाता। यह भी ध्यान मे रखना है कि कोई भी संवेग बहुत अधिक उग्र न होवे। यदि कोई संवेग असाधारण रूप से तीव्र हो गया है तो उसकी तीव्रता दूसरे संवेग को जाग्रत करके कम की जा सकती है। प्रेम का संवेग जाग्रत करके क्रोध के संवेग की तीव्रता कम की जा सकती है।

बालक के संवेग के विकास पर माता-पिता और शिक्षक के व्यवहार का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। माता-पिता मे यदि पारस्परिक व्यवहार अच्छा रहा तो बालक के संवेग का उचित विकास होता है; यदि न रहा तो बालक के संवेग का भी विकास ठीक नहीं होता। कहावत है 'प्रौबल्म पेरेन्टस् बिगेट प्रौबलम चिल्ड्रेन'। कभी-कभी माता-पिता का व्यवहार आपस मे ठीक रहता है, किंतु बच्चों के प्रति ठीक नहीं रहता। जो बालक सुन्दर और बुद्धिमान है उसके प्रति तो प्रेम है और जो

कुरूप और मंद बुद्धि है उसके प्रति उदासीनता, । ऐसी स्थिति मे बालक के संवेग का विकास ठीक नहीं होता । संवेग की दृष्टि से वह अस्थिर हो जाता है । उसमे हीनत्व-ग्रंथि पड़ जाती है और वह किसी कार्य मे अग्रशील होने के लिए अयोग्य हो जाता है । उसका मानसिक विकास स्थगित हो जाता है; ह्रास होने लगता है । स्नेह पाने पर वह जिद्दी स्वभाव का बन जाता है । यदि पाठशाला मे शिक्षक का व्यवहार कठोर मिला तो इसका भो प्रभाव बालक के संवेग पर बुरा पड़ता है । वह जिद्दी स्वभाव का बन जाता है और मनमाना करता है या वह निष्क्रिय हो जाता है । आकांक्षी नहीं रह जाता । शिक्षा के प्रति उसके मन मे भय उत्पन्न हो जाता है । अध्ययन मे रुचि नहीं रह जाती । शिक्षक को भय की आड़ मे शिक्षा नहीं देनी चाहिये । उत्तम है कि वह बालक मे आश्चर्य्य का संवेग जाग्रत करके शिक्षा देवे । इससे बालक के संवेग का विकास व्यवस्थित रूप से होता है । हीनत्व का भाव नहीं उठता और अध्ययन मे रुचि बनी रहती है ।

संवेग के स्वरूप, प्रकार और उपयोग पर विचार करने के बाद यह देखना है कि किस प्रकार इन्हें व्यवस्थित करके हम अच्छे स्थायी भाव का निर्माण कर सकते हैं ।

स्थायीभाव

किसी व्यक्ति, वस्तु या विचार के लिए स्थायी भाव बनने पर उसी के इर्द-गिर्द अनेक संवेग व्यवस्थित रूप से इकट्ठे हो जाते हैं । स्थायीभाव एक विषय-वस्तु के प्रति विभिन्न संवेगों का संघ-टन है । स्थायीभाव संवेगों को एक सूत्र मे बाँधता है । देश-भक्ति का स्थायीभाव बनने पर सभी संवेग देश-भक्ति के इर्द-गिर्द इकट्ठा हो जाते हैं । देश पर जब दुश्मन आक्रमण करता है, क्रोध आता है । देश की उन्नति देखकर आत्मगौरव के भाव का अनुभव होता है । देश के नेता के प्रति आत्मलघुता का भाव बनता है । देश के नागरिकों के प्रति प्रेम का भाव उमड़ता है । इस प्रकार सब संवेगों का केन्द्रीय देश के

प्रति हो जाता है। बौद्धिक स्थायीभाव का निर्माण होने पर मनुष्य के सभी संवेगों का केन्द्र अध्ययन बन जाता है। पुस्तकों को देखकर अध्ययन के लिये जिज्ञासा होती है। कक्षा मे सबसे अधिक नंबर मिलने पर आत्मगौरव का संवेग उठता है और अशिक्षित व्यक्तियों के प्रति घृणा का भाव हो सकता है। इसी प्रकार, किसी व्यक्ति मे कलात्मक स्थायी भाव बनने पर वह काव्य या चित्रकला मे उलझ जाता है। उसमे कला के प्रति प्रेम और आत्माभिमान के भाव उठते हैं। सुन्दर कविता या चित्र को देखकर वह प्रेम-मुग्ध हो जाता है और आह्लाद का अनुभव करता है। सामाजिक स्थायीभाव बनने पर समाज के इर्द-गिर्द मनुष्य के सभी संवेग केन्द्रित हो जाते हैं और वह व्यक्ति अपने को एक योग्य नागरिक प्रमाणित करता है। उसमे प्रेम, दया, सहानुभूति तथा आदान-प्रदान के भाव उठता है। वह समाज का सेवक बनता है। समाज के हित मे अपना हित और समाज के अहित मे अपना अहित समझता है। सामाजिक समस्या के लिये उसमे कुतूहल होता है और सामाजिक परम्परा की ओर आत्माभिमान का भाव होता है। जो व्यक्ति समाज की परम्परा तोड़ता है उसके प्रति घृणा का भाव उठता है। नीति का स्थायी भाव बनने पर नीति के सिद्धान्त पर संवेग केन्द्रित हो जाते हैं। मनुष्य के मन मे जो कोई भाव उठते हैं वे सदाचार के अनुकूल रहते हैं। ईमानदार व्यक्तियों के प्रति उसके मन मे श्रद्धा होती है और धोखेबाज व्यक्तियों के प्रति घृणा का भाव रहता है। ब्रह्मचर्य पालन करने मे, सत्य की खोज मे, अहिंसा-पालन मे वह आत्मगौरव का अनुभव करता है।

मानव के आभ्यन्तरिक क्षेत्र में क्रम-शृंखला रहती है। इसलिए कोई प्रमुख स्थायीभाव अवश्य होता है जो दूसरे स्थायीं भावों पर शासन करता हो। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक मैकडूगल के अनुसार यह 'आत्म-स्थायीभाव, (सेल्फ रिगार्डिंग सेन्टीमेंट) है। अन्य स्थायीभाव

इस प्रमुख स्थायीभाव के विकास और वृद्धि के लिये कार्य करते रहते हैं। बौद्धिक स्थायीभाव का मूल्य इसलिए होता है कि इससे आत्म-स्थायीभाव के उद्देश्य की सिद्धि होती है। कला-त्मक स्थायीभाव का कार्य भी आत्म स्थायीभाव के महत्ता की वृद्धि करना है। सौन्दर्य का भाव न रहने पर व्यक्तित्व का विकास अधूरा रह जाता है। सामा-जिक स्थायी भाव का निर्माण होना इसलिए आवश्यक है कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है और उसका मूल्य समाज के प्रसंग मे है। जो व्यक्ति स्वार्थी है और केवल अपने हित-अहित की सोचता है उसका आत्म-स्थायीभाव ऊँचा नहीं उठता। प्रारंभ मे आत्म स्थायीभाव शरीर तक सीमित रहता है। धीरे-धीरे आदर्श आत्म का निर्माण होता है। जिस व्यक्ति का आदर्श जितना अधिक धर्म, समाज और नीति पर संघटित रहता है उतना ही अधिक उस व्यक्ति का आत्म स्थायीभाव पुष्ट रहता है। आत्म स्थायीभाव की नीव तभी पड़ती है जब सब संवेग का शिक्षा के द्वारा परिमार्जन हो जाता है।

आत्मस्थायी भाव

स्थायीभाव का निर्माण बहुत कुछ वातावरण पर निर्भर है। जब माता-पिता प्रारंभ से ही संवेगात्मक अवस्था के उपयुक्त विकास के लिये सजग रहते हैं तब बालक मे अच्छे स्थायी भाव की नीव पड़ती है; जब उनका ध्यान इस ओर नहीं रहता, बालक का संवेग व्यवस्थित नहीं होता और उसमे आदर्श स्थायीभाव भी नहीं बनता। संवेग के प्रसंग मे यह बतलाया जा चुका है कि बालक की संवेगात्मक अवस्था पर माता-पिता और शिक्षक के व्यवहार का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। यदि बाल्यावस्था मे उपयुक्त वातावरण होने से उच्च स्थायीभाव की नीव पड़ गयी है तो अच्छे आचरण का निर्माण होगा। स्थायी-भाव जन्मदत्त विशेषता नहीं है। यह अर्जित है और इसका स्वभाव और स्वरूप वातावरण पर निर्भर है। स्थायीभाव और वृत्ति मे यही

मुख्य भेद है कि स्थायीभाव वातावरण से बनता है और वृत्ति जन्मदत्त होती है। इस कारण शिक्षा-क्षेत्र मे मुख्य समस्या यह उठी कि किस प्रकार का वातावरण रखा जावे जिससे हरएक व्यक्ति मे उच्च स्थायीभाव की नीव पड़ सके। शिक्षा का मुख्य कार्य बालक के सब संवेगों को संघटित करना है। यह तभी संभव है जब उपयुक्त परामर्श और निर्देशन से उनका परिशोधन किया जावे। जिनके संवेग का विकास उपयुक्त रूप मे नहीं होता उनका व्यवहार जीवन-पर्यन्त प्रकृत और असुसंस्कृत रूप मे रह जाता है। संभव है किसी संवेग का असाधारण रूप से विकास होने पर बालक पागल-सा व्यवहार करने लगे। तब उसके व्यक्तित्व मे संतुलन नहीं रह जाता। जब संवेग का विकास उपयुक्त रूप मे होता है तब उच्च स्थायीभाव की नीव पड़ती है और बालक का आचरण भी आदर्श रूप मे बनता है। संतुलित व्यक्तित्व के लिये संवेग का उचित और समान रूप से विकास होना आवश्यक है। इस कारण शिक्षा के लिये संवेग की समस्या प्रथम समस्या है।

आचरण का निर्माण

यह पहले ही लिखा जा चुका है कि आचरण का निर्माण स्थायीभाव पर निर्भर है। जिस प्रकार किसी का स्थायीभाव उसके संवेगों का समुदाय है, उसी प्रकार आचरण उसके स्थायी भावों का समुदाय है। संवेग से स्थायीभाव बनता है, और स्थायीभाव से आचरण बनता है। इस तरह मूल मे आचरण का आधार भी संवेग है। आचरण मे सुधार करने का तात्पर्य्य संवेग मे परिशोधन करना है। जब संवेग का परिशोधन होता है, अच्छे स्थायी भाव बनते हैं और उत्कृष्ट कोटि के आचरण का निर्माण होता है; जब संवेग का परिशोधन नहीं होता, प्रकृत संवेग और वातावरण मे संघर्ष होता है। संवेग के तीव्र और प्रकृत रूप मे होने के कारण मनुष्य करना कुछ चाहता है और समाज की परम्परा प्रतिकूल होने के कारण उसे कुछ और करना पड़ता है।

ऐसी स्थिति मे स्थिर आचरण का निर्माण नहीं हो पाता। जब संवेग परिमार्जित हो जाता है और समाज के नियम-परम्परा और भाव लहरी मे समझौता स्थापित हो जाता है तब उनमे विरोध नहीं रह जाता। भावना-ग्रन्थियाँ नहीं पड़ पातीं। मनुष्य एक दृढ़प्रतिज्ञ व्यक्ति-सा व्यवहार करने लगता है। इस कारण शिक्षक को यह ध्यान रखना चाहिये कि वह सदैव इस प्रकार की परिस्थिति रखे जिससे बालक का संवेग परिष्कृत होवे और तीव्र न होने पावे। माता-पिता के अनुपयुक्त व्यवहार से बालक के मन मे जो भावना-ग्रन्थियाँ पड़ भी गई हैं उनका निवारण शिक्षा-द्वारा हो जावे।

भावना-ग्रन्थियाँ मानसिक रोग के कीटाणु हैं। जिस व्यक्ति के अन्तर्जगत मे भावना-ग्रन्थियाँ पड़ी रहती हैं वह व्यक्ति मनोविक्षेप या मानसिक दौर्बल्य से त्रस्त हो जाता है। मनोविक्षेप मे रोगी की भावना-ग्रन्थियाँ बहुत कड़ी, गूढ़ और विभिन्न प्रकार की होती हैं। सुलझाये नहीं सुलझतीं।

भावना-ग्रन्थियाँ

रोगी अपने वश मे नहीं रहता। नाना प्रकार की भ्राँति तथा भ्रम उसके मस्तिष्क मे चक्कर काटते रहते हैं। समय, स्थान और अपने व्यक्तित्व का ज्ञान भी उसे नहीं रह जाता। वह दूसरों को हानि पहुँचाता है और समाज के लिये समस्या हो जाता है। मनोदौर्बल्य के रोगी की भावना-ग्रन्थियाँ वैसी जटिल नहीं होतीं। निर्देशन और विश्लेषण द्वारा हटाई जा सकती हैं। रोगी के मन मे केवल भय और चिन्ता ऐसे निरर्थक विचार रहते हैं जिनके कारण उसमे उत्साह नहीं रहता और वह किसी कार्य मे अग्रभाग नहीं लेता। मनोविक्षेप की तरह, इसमे रोगी का व्यवहार असम्बद्ध नहीं हो जाता।

भावना-ग्रन्थि का मूल कारण इच्छा का दमन करना है। दमन-क्रिया तभी चलती है जब आभ्यन्तरिक जगत मे संघर्ष होता है। जिसका आभ्यन्तरिक जीवन संघर्ष से मुक्त है उसके मन मे दमन-क्रिया नहीं

चलती। जब कभी हमारी प्रारम्भिक इच्छाएँ सामाजिक आदर्श परम्परा के कारण दबा दी जाती हैं, हमारे मन मे भावना-ग्रन्थियाँ पड़ती हैं। मानव मे प्रभुता की स्वाभाविक इच्छा है। यदि वह निर्धन है और समाज मे उसका स्थान ऊँचा नहीं है तो उसे अपनी आत्मप्रतिपादन-वृत्ति से सम्बन्धित इच्छाओं का दमन करना पड़ता है। दमन की हुई ये ही इच्छाएँ उसके मन मे भावना-ग्रन्थियाँ डालती हैं। किसी की आर्थिक अवस्था शोचनीय है। दोनों वक्त भोजन के लिये पैसा नहीं मिलता। कॉलेज के लिये रोज पाँच मील पैर घसीटना पड़ता है। मित्र धनी है। मित्र की सज-धज देखकर उसमे हीनत्व-ग्रन्थि पड़ जाती है। भावना-ग्रन्थि का पड़ना व्यक्तिगत विशेषता पर भी निर्भर है। किसी मे ऐसी पैदायशी विशेषता होती है कि वह किसी प्रकार की कमी महसूस नहीं करता। जो कुछ है उससे वह सन्तुष्ट रहता है। इस वर्ग के व्यक्ति मे भावना-ग्रन्थियाँ कम पड़ती हैं। किन्तु जो संवेदनशील स्वभाव का है उस पर साधारण सी बात का भी बहुत प्रभाव पड़ता है। छोटी सी बात से दुःख के सागर मे डूब जाता है और क्रोध मे सुध-बुध खो देता है। सभ्यता और संस्कृति के लिये जब उसे मन के तूफान को दबाना पड़ता है तब उसके मन मे भावना-ग्रन्थियाँ पड़ जाती हैं। जो भावना-ग्रन्थियाँ पड़ती हैं वे गूढ़ और कड़ी होती हैं और बहुत प्रयत्न करने पर भी ढीली नहीं हो पातीं।

भावना-ग्रन्थि का कारण

भावना-ग्रन्थियाँ कई प्रकार की होती हैं। उनमे से निम्न-लिखित ग्रन्थियाँ प्रमुख हैं—

१. काम-ग्रन्थि
२. आत्मप्रतिपादन-ग्रन्थि
३. हीनत्व-ग्रन्थि
४. समाज-ग्रन्थि

जब काम-वृत्ति या उससे सम्बन्धित प्रेम के संवेग पर नियन्त्रण किया जाता है तब काम-ग्रन्थि पड़ती है। काम-ग्रन्थि मनुष्य में बहुत अधिक होती है क्योंकि काम-वृत्ति सबसे अधिक तीव्र वृत्ति है और इस पर समाज का प्रतिबन्ध भी सबसे अधिक होता है। काम-ग्रन्थि से संवेग अस्थिर हो जाता है जिससे व्यक्तित्व में अव्यवस्था आ जाती है। जब यह बहुत कड़ी पड़ जाती है तब कोई व्यक्ति विक्षेप की अवस्था को भी पहुँच जा सकता है। आत्मप्रतिपादन-ग्रन्थि पड़ने पर मनुष्य अपने को असाधारण रूप से श्रेष्ठ मानने लगता है। सम्भव है वह ऐश्वर्य-भ्रम से त्रस्त हो जाय जो स्थिरभ्रम रोग (पैरेनोइया) का लक्षण है। जो व्यक्ति कद में छोटा है, जिसकी बुद्धि मन्द है और जिसकी आर्थिक अवस्था अच्छी नहीं है उसके आभ्यन्तरिक क्षेत्र में हीनत्व-ग्रन्थि पड़ जाती है। इसी प्रकार समाज-ग्रन्थि भी पड़ती है।

भावना-ग्रन्थि का निवारण

भावना-ग्रन्थियों के निवारण का सबसे अच्छा उपाय यह है कि वृत्तियों की तुष्टि के लिये सब प्रकार का साधन होवे। अकारण और अत्यधिक दमन करना अच्छा नहीं है। इसलिये आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने वृत्तियों के प्रदर्शन को उत्तम माना है। वृत्तियों का प्रदर्शन हो जाने से मानसिक अवस्था स्वस्थ रहती है। यदि प्रारम्भ से ही वृत्ति-संवेग के परिमार्जन का उपक्रम किया जाय तो दमन का प्रश्न नहीं उठता। वृत्ति-संवेग परिमार्जित हो जाने के बाद ऐसा रूप ले लेते हैं जो समाज को मान्य होता है। किन्तु यदि किसी व्यक्ति में भावना-ग्रन्थियाँ पड़ ही गयी हैं तो उनके निवारण के लिये निम्नलिखित प्रकार से उपचार किया जा सकता है।

१. निदान—विश्लेषण करके यह पता लगाने का प्रयत्न करना कि उसमें भावना-ग्रन्थियाँ क्यों और कैसे पड़ गयी हैं।

२. पुनः शिक्षा—संवेगों के रेचन का अवसर देने से भावना-

ग्रन्थियाँ धीरे-धीरे ढीली पड़ जाती हैं। दया और सहानुभूति का भाव उत्पन्न करके समाज-ग्रन्थि का निवारण किया जा सकता है।

२. वांछनीय स्थायी भाव का निर्माण—इससे आचरण मे स्थिरता आती है और मनुष्य साधारण-सी बात मे डावाँडोल नहीं होता।

शिक्षा द्वारा व्यक्तित्व विकास किस प्रकार किया जा सकता है, इस पर प्रकाश डालने के लिए यह बतलाना आवश्यक है कि व्यक्तित्व क्या है? मनोविज्ञान मे व्यक्तित्व शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ मे किया गया है। व्यक्तित्व का अर्थ शारीरिक सौन्दर्य्य से नहीं है। शारीरिक सौन्दर्य्य केवल एक अंग है। केवल सौन्दर्य्य को देखकर व्यक्तित्व के बारे मे कोई निर्णय नहीं दिया जा सकता।

व्यक्तित्व

व्यक्तित्व के मुख्य अंग निम्न प्रकार हैं—

१. बुद्धि
२. स्वभाव
३. सामाजिकता
४. शरीर-गठन
५. संवेग

व्यक्तित्व बहुत कुछ बुद्धि पर निर्भर है। बुद्धि की दृष्टि से साधारणतः मनुष्य तीन प्रकार के होते हैं—प्रखर, साधारण और मन्द। जो प्रखर बुद्धि के हैं उनका बुद्धि-भागफल १०० से अधिक होता है; जो साधारण बुद्धि के हैं, उनका बुद्धि-भागफल १०० के इर्द-गिर्द रहता है और जो मंदबुद्धि के हैं उनका बुद्धि-भागफल १०० से कम होता है। मन्दबुद्धि मे भी कई श्रेणियाँ हैं—जड़ (ईडियट), मूढ़ (इम्बेसाइल) और मन्द (मोरोन)। जिसका बुद्धि-भागफल ९०-१०० है या इससे भी कम, उसके व्यक्तित्व का विकास पूर्ण रूप से नहीं हुआ है। बुद्धि-भागफल किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व-विकास का मापक है। बुद्धि स्वाभाविक विशेषता है। इसमे वृद्धि नहीं की जा सकती। इस कारण शिक्षक का

कार्य केवल यही है कि वह पाठशाला मे इस प्रकार की व्यवस्था करे कि हरेक बालक अपनी बुद्धि के अनुकूल शिक्षा प्राप्त कर सके। तब बालक मे जो कुछ बुद्धि है उसका अधिक से अधिक उपयोग और विकास हो सकेगा।

व्यक्तित्व का दूसरा आवश्यक अंग स्वभाव है। क्रेटशेमर के अनुसार स्वभाव की दृष्टि से मनुष्य चार प्रकार मे बाँटे जा सकते हैं—प्रफुल्ल, उदास, क्रोधी, उद्विग्न। उन्होंने शरीर-रचना के आधार पर यह वर्गीकरण किया था। प्रफुल्ल व्यक्ति सदैव प्रसन्न रहते हैं। कितनी भी कठिनाइयों का सामना क्यों न करना पड़े वे कभी निराश नहीं होते। हास-परिहास अच्छा लगता है। दुःख मे भी प्रसन्न रहते हैं। उदास व्यक्ति इनके विपरीत होते हैं। वे उदासी का दामन लाख चाहने पर भी नहीं छोड़ सकते। क्रोधी व्यक्ति क्षण मे ही आग बबूला हो जाते हैं। उद्विग्न व्यक्ति पल मे हँसते हैं और पल मे रोते हैं। कभी आशा के सागर मे हिलोरे लेते हैं और कभी निराशा मे डूबते हैं।

व्यक्तित्व का तीसरा आवश्यक अंग समाज-प्रियता है। जहाँ तक समाज के प्रति सम्बन्ध का प्रश्न है, व्यक्तित्व दो प्रकार का होता है—बहिर्मुखी और अन्तर्मुखी। बहिर्मुखी की विशेषता है कि वह समाजप्रिय होता है। क्लब, गोष्ठी और मित्रों की मण्डली मे उसे आनन्द आता है। एकाकी जीवन नहीं पसन्द करता। समाज के कार्य मे उसकी रुचि रहती है और राजनीति मे वह कुशल होता है। अन्तमु र्खी व्यक्ति दार्शनिक विचार का होता है। उसे खेल, तमाशा, सभा सोसाइटी पसन्द नहीं आता। कल्पना की दुनिया मे वह रमता है। शिक्षक का कार्य है कि वह उपयुक्त व्यक्तित्व विकास के लिए जो बालक अन्तमु र्खी हैं उनको आदान-प्रदान का भाव उत्पन्न करने के लिए प्रोत्साहन दें और जो बहिमु र्खी है उन्हें जीवन के गूढ़ तथ्य पर मनन करने के लिए प्रोत्साहन दें। यद्यपि जिनमे सामाजिकता का भाव नहीं है उसमे सामाजिकता का भाव उत्पन्न नहीं किया जा सकता और जो अपने मे नहीं रमतें,

गूढ़ तथ्य पर विचार नहीं करते, उनका भी भाव नहीं बदला जा सकता तथापि उपयुक्त उत्तेजन का कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य पड़ता है।

व्यक्तित्व का चौथा अंग शारीरिक गठन है। शारीरिक गठन की दृष्टि से कुछ व्यक्ति हृष्ट-पुष्ट होते हैं और कुछ दुबले पतले; कुछ लम्बे और कुछ नाटे; कुछ गौरवर्ण और कुछ श्यामवर्ण। जो व्यक्ति शरीर से डील-डौल मे अच्छा होता है उसका व्यक्तित्व अच्छा समझा जाता है। इस कारण शिक्षक को बालक के स्वास्थ्य का भी पूरा ध्यान रखना आवश्यक है। व्यायाम का प्रबन्ध होवे जिससे वह शरीर से डील-डौल मे अच्छा बने।

व्यक्तित्व का पाचवाँ अंग संवेग है। इस सम्बन्ध मे शिक्षक का कार्य बहुत महत्व का है। यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि संवेग का उपयुक्त रूप से परिशोधन होने पर अच्छे आचरण का निर्माण होता है। संवेग का परिशोधन न होने पर व्यक्तित्व का ठीक विकास नहीं होता। सम्भव है पचीस वर्ष का एक युवक, जिसका संवेग परिशोधित नहीं हुआ है, किशोर युवक-सा व्यवहार करे। यह इस बात का प्रमाण है कि उसके व्यक्तित्व का विकास किशोरावस्था के बाद नहीं हुआ है। कभी-कभी तो प्रत्यावर्तन भी हो जाता है। मानसिक विकास न होकर मानसिक ह्रास होता है।

व्यक्तित्व के सब अंगों का ध्यान रखकर व्यक्तित्व-विकास के लिए साधन जुटाना शिक्षा का प्रमुख कार्य है। मन के तीनो पहलू—ज्ञानात्मक, क्रियात्मक और संवेगात्मक—का विकास होना आवश्यक है। यों तो बालक अपने मे पूर्ण रहता है। सभी वृत्ति-प्रवृत्तियों और बुद्धि के साथ पैदा होता है। अधिक परिवर्तन लाना संभव नहीं होता। जो कुछ विशेषता अव्यक्त है उसे व्यक्त करना ही हमारा कार्य है। मानव के व्यक्तित्व का यह सच्चा विकास है।

संवेदन और प्रत्यक्षीकरण

जिस प्रकार संवेग पर मनुष्य का आचरण निर्भर है उसी प्रकार संवेदन और प्रत्यक्षीकरण पर उसका ज्ञान निर्भर है। संवेदन और प्रत्यक्षीकरण के बिना उसे बाह्य वस्तु का परिचय नहीं मिल सकता। इनके द्वारा जो ज्ञान होता है उसी पर विचार और तर्क किया जाता है। जिसे संवेदन और प्रत्यक्षीकरण की मानसिक क्रियाओं के विकास का साधन नहीं मिलता उसका बौद्धिक विकास नहीं हो पाता। उसकी कल्पना और स्मृति-क्रिया का विकास नहीं होता। इसलिये वह तर्क मे भाग नहीं ले सकता और किसी समस्या-विषय पर गूढ़ विचार नहीं कर सकता। बहुतेरी वस्तुओं से वह अनभिज्ञ रहता है और इस तरह उसका ज्ञान सीमित रह जाता है। इस दोष-कमी से बचाव के लिए पाठशालाओं मे ऐसी व्यवस्था की गयी है कि बालक हर प्रकार की वस्तु का निरीक्षण स्वयं करके उस वस्तु के बारे मे विस्तार से ज्ञान प्राप्त करे। बालकों को अब शिक्षा-पर्यटन पर ले जाया जाता है।

संवेदन

संवेदन मे किसी वस्तु का प्रारम्भिक बोध होता है। यह ज्ञान की पहली सीढ़ी है। बाह्य वस्तु का इन्द्रिय से सम्पर्क होने पर ज्ञान-तन्तु (सेन्सरी नर्व) द्वारा इसकी सूचना मस्तिष्क मे जाती है और बालक को यह बोध होता है कि कोई वस्तु सामने है। यह नहीं बोध होता कि सामने हाथी है या घोड़ा; आवाज़ मोटर के हॉर्न की है या रेल की सीटी की है। इस प्रकार का 'शुद्ध संवेदन' बालक को प्रारम्भ मे होता है; बाद मे पिछले अनुभव के कारण वह सब वस्तुओं का अर्थ लगाने लगता है और इस तरह उसे 'शुद्ध संवेदन' नहीं होता। हाथी को देखते ही वह समझ

जाता है कि यह हाथी है; घोड़ा को देखते ही समझ जाता है कि यह घोड़ा है। रेल की सीटी और मोटर के हॉर्न को वह पहचान लेता है।

संवेदन पाँच प्रकार से होता है। नेत्र के द्वारा जो बोध होता है उसे 'दृश्य-संवेदन' कहते हैं। कान के द्वारा जो बोध होता है उसे 'श्रव्य-संवेदन' कहते हैं। त्वचा के द्वारा जो बोध होता है उसे 'स्पर्श-संवेदन' कहते हैं। नाक के द्वारा जो बोध होता है उसे 'घ्राण-संवेदन' कहते हैं। और जिह्वा के द्वारा जो बोध होता है उसे 'रस-संवेदन' कहते हैं। इस तरह सब प्रकार की वस्तुओं की सूचना हमे किसी न किसी इन्द्रिय से मिलती रहती है। हरएक व्यक्ति की हरएक इन्द्रिय समान रूप मे तीव्र नहीं होती। किसी को नेत्र के द्वारा अधिक बोध होता है; किसी को कान के द्वारा और किसी को त्वचा के द्वारा। इस कारण पाठशालाओं मे शिक्षा की व्यवस्था ऐसी रहनी चाहिये कि सब इन्द्रियों को तीव्र करने के लिये उत्तेजन मिलते रहें। इससे यह होगा कि विद्यार्थी अपनी विशेषता के अनुकूल उत्तेजन से शिक्षा प्राप्त करेगा। जिसकी दृश्य-इन्द्रिय तीव्र है वह प्रकार-प्रकार के रंग और आकार की वस्तुओं से लाभ उठावेगा; जिसकी श्रव्य-इन्द्रिय तीव्र है वह व्याख्यान से।

प्रत्यक्षीकरण

संवेदना का प्रत्यक्षीकरण से निकट संबंध है। इसके बिना प्रत्यक्षीकरण संभव नहीं है। संवेदन की तरह प्रत्यक्षीकरण मे भी बाह्यवस्तु का इन्द्रिय से सम्पर्क होता है। दोनों ही ज्ञानात्मक क्रियाएँ हैं। भेद यह है कि संवेदन मे किसी वस्तु का केवल बोध होता है और प्रत्यक्षीकरण मे उस वस्तु के स्वभाव-स्वरूप तथा अर्थ का स्पष्टीकरण हो जाता है। संवेदन सरल होता है; प्रत्यक्षीकरण जटिल। प्रत्यक्षीकरण मे विवेचन होता है—विश्लेषण-संश्लेषण चलता है। इसमे बहुत-से संवेदन का मिश्रण मिलता है। नारंगी के प्रत्यक्षीकरण मे नारंगी का मीठापन तो रस-संवेदन है और उसका पीला रंग दृश्य-संवेदन है।

प्रत्यक्षीकरण भी पाँच प्रकार से होता है : दृश्य, श्रव्य, स्पर्श, घ्राण और रस। यह नहीं कि प्रत्यक्षीकरण केवल दृश्य-संबंधी होता है। अन्य इन्द्रियों से भी प्रत्यक्षीकरण होता है। किसी व्यक्ति का दृश्य-प्रत्यक्षीकरण तीव्र होता है—देखी हुई चीजों का सरलता से विस्तारपूर्वक ज्ञान प्राप्त कर लेता है। इस वर्ग के व्यक्ति पुस्तकों का अध्ययन करके अधिक लाभ उठा सकते हैं; भाषण का प्रभाव इन पर कम पड़ता है। किसी का श्रव्य-प्रत्यक्षीकरण तीव्र होता है—सुनी हुई बातों का अधिक प्रभाव पड़ता है। किसी विषय पर एक बार व्याख्यान सुना और सब बातें ध्यान मे बैठ गयीं। किसी का स्पर्श-प्रत्यक्षीकरण तीव्र होता है। अंधी और बहरी मिस हेलन केलर सब वस्तुओं की जानकारी स्पर्श के द्वारा कर लेती हैं। जिसका दृश्य-प्रत्यक्षीकाण तीव्र है वह वस्तुओं को देखकर ज्ञान प्राप्त करता है; जिसका श्रव्य-प्रत्यक्षीकरण तीव्र है वह शिक्षक से रोचक कथा-कहानी सुनकर; और जिसका स्पर्श-प्रत्यक्षीकरण तीव्र है, वह अलग-अलग वजन और आकार की वस्तु को स्पर्श करके ज्ञान प्राप्त करता है। प्रत्यक्षीकरण की मानसिक क्रिया के लिये उपयुक्त उत्तेजन देकर बालक के ज्ञान मे वृद्धि की जा सकती है। इससे वह वस्तुओं की स्पष्ट धारणा बना सकेगा। सूक्ष्म वस्तु का समझना बालक की पहुँच के बाहर है। स्थूल वस्तु को देखते ही उसका ज्ञान वह कर लेता है और उसको जानने के लिये उसमे उत्कंठा भी होती है। बालक मे वृक्ष की धारणा बनाना है। यदि उसे वृक्ष न दिखलाया जाय, केवल विस्तार से वर्णन कर दिया जाय तो वह वृक्ष का सजीव चित्र नहीं खींच पावेगा। जब वह वृक्ष देख लेता है तभी उसके मन मे वृक्ष की स्पष्ट धारणा बन सकती है। वृक्ष को देखते ही वह पहचान लेता है कि यह वृक्ष है। इसी प्रकार जब वह प्रकार-प्रकार की ध्वनि और लय मे संगीत सुनता है तब उसके श्रव्य-प्रत्यक्षीकरण की क्रिया का विकास होता है।

संवेदन और प्रत्यक्षीकरण का विकास इन्द्रियों के विकास पर निर्भर

है। इन्द्रियाँ ज्ञान के द्वार हैं। इन्द्रियों को तीव्र करने के लिए साधन अथवा शिक्षा-द्वारा उपयुक्त प्रकार का उत्तेजन देना आवश्यक है जिससे ज्ञान की वृद्धि हो सके। यह तो साधारण अनुभव का

इन्द्रिय-विकास

विषय है कि उपयोग से किसी क्रिया या अंग का विकास होता है और उपयोग न करने से वह क्रिया या अंग निष्प्रभ हो जाता है। इन्द्रियों के विषय में भी यही घटता है। जब इनका उपयोग किया जाता है तब ये तीव्र होती हैं और इनसे अधिक से अधिक ज्ञान की प्राप्ति होती है। जब इनका उपयोग नहीं किया जाता तब ये शिथिल पड़ जाती हैं। इसलिए शिक्षक को बालक की सभी इन्द्रियों के विकास के लिये उत्तेजन देने की व्यवस्था करना है। इससे दो लाभ हैं: एक तो, प्रत्येक इन्द्रिय को अपना विशिष्ट उत्तेजन (स्पेसिफिक स्टिम्यूलस) मिल जाता है और दूसरे, जिसकी एक इन्द्रिय मे दोष है वह दूसरी इन्द्रिय से ज्ञान प्राप्त कर लेता है। शिक्षक को इस बात का ध्यान रखना है कि यदि किसी बालक की एक इन्द्रिय क्रियमाण नहीं है तो उसकी दूसरी इन्द्रिय को अधिक से अधिक उत्तेजन देकर क्रियमाण बनाना है, जिससे दूसरी इन्द्रिय पहली इन्द्रिय की कमी की पूर्त्ति कर ले। मनुष्य के शरीर की बनावट इस प्रकार है कि उसकी कोई एक इन्द्रिय अवश्य तीव्र होती है और उस इन्द्रिय का उपयोग करके ज्ञान-वृद्धि की जा सकती है। प्रायः देखा गया है कि जिस बालक की दृश्य-इन्द्रिय कमजोर है और वह अधिक देर तक पुस्तक नहीं पढ़ सकता, उसकी श्रव्य-इन्द्रिय तीव्र रहती है और वह ज्ञान की प्राप्ति बहुत कुछ गोष्ठी तथा व्याख्यान से कर लेता है। इसलिये शिक्षक को यह पता लगाने का प्रयत्न करना चाहिये कि किस बालक की कौन सी इन्द्रिय अधिक तीव्र है। तभी वह उस इन्द्रिय को माजने के लिये विशिष्ट उत्तेजन की विशेष व्यवस्था कर सकता है। आधुनिक शिक्षा मे इन्द्रियों के मार्जन की ओर विशेष ध्यान

दिया जाता है। मॉन्टेसरी शिक्षा-प्रणाली का उद्देश्य ही इन्द्रियों का विकास करना है। फ्रॉयबल और किंडरगार्टेन शिक्षा-प्रणालियाँ भी इसी उद्देश्य से निकाली गयी हैं। इन शिक्षा-प्रणालियों मे यह नियम है कि बालकों के इन्द्रिय-विकास के लिये उन्हे प्रकार-प्रकार की वस्तुएँ देना आवश्यक है। इससे सब इन्द्रियाँ प्रखर हो जाती हैं। प्रत्यक्ष निरीक्षण से बहुत लाभ होता है, परोक्ष ज्ञान से उतना लाभ नहीं होता। बालक को फार्मबोर्ड और लकड़ी के टुकड़े दिये जाते हैं। फार्मबोर्ड मे प्रकार-प्रकार के आकार के खाने बने रहते हैं और इन खानों मे बालक को वैसे ही आकार के लकड़ी के टुकड़े बैठाने पड़ते हैं। इससे बालक की दृश्य-इन्द्रिय खेल ही खेल मे निखर जाती है और वह सब आकर—त्रिकोण चौकोण—की धारणा बना लेता है। बालक को बाग मे ले जाकर वहाँ की सब वस्तुओं का प्रत्यक्षीकरण करने के लिये प्रोत्साहन दिया जाता है। इससे भी दृश्य-इन्द्रिय निखर जाती है और जो धारणा वह फल-फूल की बनाता है वह ठीक होती है और मस्तिष्क मे स्थायी स्थान बना लेती है। इसी प्रकार ऐतिहासिक स्थानों पर शिक्षा-पर्यटन का प्रबन्ध करके इतिहास की शिक्षा दी जा सकती है। इससे विषय मे रुचि उत्पन्न होती है और वह सब स्थानों का निरीक्षण करके सम्बन्धित घटनाओं का चित्र अपने मन मे खींच लेता है। संग्रहालय और अजायबघर के द्वारा भी बालकों के दृश्य-प्रत्यक्षीकरण का विकास किया जा सकता है। हरएक वस्तु का प्रत्यक्षीकरण करने के बाद जब वह किसी वस्तु के बारे मे सुनता है या पुस्तक मे पढ़ता है तब सुनते और पढ़ते ही वह उस वस्तु की सब विशेषताओं का स्पष्ट अनुमान लगा लेता है।

इन्द्रियों की तीव्रता नापने के लिये बहुत सी मनोवैज्ञानिक परीक्षाएँ निकली हैं। दृश्य के लिये रंग-परीक्षा है। पृथक्-पृथक् आकार और नाप के अक्षरों को भी, पंक्ति मे इतनी दूरी पर रखकर कि सामान्य वर्ग का व्यक्ति उन्हें आसानी से पढ़ सके, प्रयोगपात्र से पढ़ने के लिये कहा जाता

है। प्रयोग करने से पता लगता है कि सब व्यक्तियों का दृश्य-संवेदन समान तीव्र नहीं होता। श्रव्य-संवेदन की तीव्रता नापने के लिये ह्विस्पर परीक्षा दी जाती है। प्रयोगकर्त्ता इस परीक्षा मे प्रयोगपात्र से भिन्न-भिन्न दूरी पर खड़े होकर कुछ शब्द बोलता है या कार्य करने का आदेश देता है। दूरी पर रहते और धीरे से बोलने पर भी यदि प्रयोगपात्र बात सुन लेता है तो यह समझा जाता है कि प्रयोगपात्र का श्रव्य-संवेदन तीव्र है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक सीशोर ने इस पर कई आविष्कार किये और एक नये प्रकार का 'औडियोमीटर' नामक यन्त्र निकाला जिससे किसी व्यक्ति की श्रव्य-संवेदन-शक्ति आसानी से नापी जा सकती है। स्वराघात पहचानने की शक्ति भी भिन्न-भिन्न परिमाण और गुण मे होती है। इसी प्रकार स्पर्श-संवेदन के भेद का पता लगाने के लिये चार परीक्षाएँ निकली हैं—गर्म, सर्द, दुख, सुख। किसी व्यक्ति की त्वचा पर संवेदन अनुभव करने के अधिक विंदु मिले और किसी की त्वचा पर कम। अधिकतर उन्हीं व्यक्तियों का स्पर्श-संवेदन तीव्र रहता है जिनका दृश्य और श्रव्य संवेदन कमजोर होता है।

दृश्य-प्रत्यक्षीकरण पर टैकिसटोस्कोप द्वारा प्रयोग

अब प्रश्न यह है कि बालक एक बार मे कितनी वस्तुओं का प्रत्यक्षीकरण करता है, और यह भी कि सब स्थिति मे वस्तुओं की संख्या समान होती है या कम-अधिक। इस पर वैज्ञानिक निष्कर्ष निकालने के लिये प्रयोग किये गये हैं। टैकिसटोस्कोप एक प्रकार का यंत्र है जिससे यह पता लगाया जा सकता है कि एक व्यक्ति अपने नेत्र को बिना हिलाये एक सेकेन्ड के पाँचवे भाग मे क्या देख सकता है। पहले कुछ अक्षरों को बिखरे हुये रूप मे दिखलाया गया। अक्षर आगे पीछे के थे—प, ड, य, ज। फिर अक्षरों को पास-पास रखकर शब्द के रूप मे दिखलाया गया। फिर कुछ बिन्दुओं को, एक बार क्रम से और दूसरी बार बिना क्रम से, रखकर दिखलाया गया। जब प्रयोगपात्र को

अक्षर बिना क्रम मे रखे दिखलाया गया तब वह केवल चार या पाँच अक्षर देख पाया; जब सब अक्षरों को क्रम मे रखकर या शब्द बनाकर दिखलाया गया तब प्रयोगपात्र दस अक्षर तक देख सका। जब परिचित शब्द दिये गये तब अक्षरों के प्रत्यक्षीकरण करने की संख्या और भी बढ़ गयी। वह बीस से तीस अक्षरों तक देख सका। निष्कर्ष यह निकला कि क्रम से और सम्बद्ध रूप मे रहने से अधिक वस्तुएँ देखी जा सकती हैं। परिचित होने पर और भी अधिक। इस कारण शिक्षक को यह ध्यान मे रखना चाहिये कि वह वस्तुओं को बालक के सम्मुख क्रम से और परिचित वस्तु से सम्बन्धित करके प्रस्तुत करे जिससे वह अधिक वस्तुओं का प्रत्यक्षीकरण कर सके। इससे दृश्य-परिधि बढ़ जाती है। अधिक वस्तुएँ देखी जा सकती हैं। यों तो मानव मे व्यक्तिगत भेद रहता है; सम्भव है एक बालक अधिक वस्तुओं का प्रत्यक्षीकरण करे और दूसरा कम। किसी की दृश्य-परिधि जन्म से ही अधिक हो सकती है और किसी की कम। फिर भी उपयुक्त शिक्षा-प्रणाली रखने पर बहुत सी कमियों की पूर्त्ति की जा सकती है।

जो शिक्षक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों को जानता है वह बालक के शारीरिक अथवा मानसिक दोष-कमी की ओर संकेत नहीं करता। वह तो उसका सहायक बनता है—जो कुछ उसमे मौजूद है उसके विकास के लिये सब प्रकार का साधन जुटाता है।

———

ध्यान

शिक्षक के सम्मुख विशेषकर यह समस्या उठती है कि वह बालक का ध्यान अध्ययन की ओर किस प्रकार लगावे। जबतक बालक का ध्यान अध्ययन की ओर नहीं लगता वह ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता और न कोई कार्य ही सीख सकता है। जब उसका ध्यान शिक्षक के व्याख्यान की ओर रहता है, वह कुशलतापूर्वक सब समझ जाता है, पाठ को याद कर लेता है और पिछले ज्ञान-अनुभव से सम्बन्धित करके उसको मन मे उतार लेता है। ध्यान देने से ही सूक्ष्म निरीक्षण होता है। गूढ़ समस्या पर विचार किया जाता है। नयी वस्तुओं के बारे मे ज्ञान प्राप्त होता है और इस प्रकार नयी धारणाएँ बनती हैं। बालक के 'ध्यान को जीतना' बहुत आवश्यक है क्योंकि इसी पर स्मृति, प्रत्यक्षीकरण, विचार-विनिमय इत्यादि मानसिक क्रिया-प्रक्रियाओं का विकास निर्भर है। बालक का ध्यान शिक्षा की ओर लगाने के लिए शिक्षक को 'ध्यान' की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि का ज्ञान होना आवश्यक है।

मनोविज्ञान मे 'ध्यान' शब्द का प्रयोग विशेष अर्थ मे किया जाता है। पहले यह मन की एक शक्ति (फैकल्टी) माना जाता था और यह भी विश्वास था कि उपयुक्त उत्तेजन देकर इसका विकास किया जा सकता है। परन्तु अब यह एक मानसिक क्रिया समझा जाता है जिसमे कर्त्ता और कर्म दोनों का ही होना आवश्यक होता है। एक व्यक्ति किसी वस्तु की ओर ध्यान देता है। मैकडूगल का कथन है "ध्यान किसी वस्तु को जानने का प्रयत्न करना है"।*

* "Striving to Cognise".
"Attention is menely conation or striving considered from the point of view of its effects on cognitive process". Outline of Psychology—Mc Dougall.

मन जितना अधिक सक्रिय रहता है, ध्यान उतना ही अधिक तीव्र होता है।

'ध्यान' की पहली विशेषता यह है कि यह मन की सक्रिय अवस्था है, निष्क्रिय नहीं। यह चेतन क्रिया है। इसमे सम्पूर्ण मस्तिष्क क्रियमाण रहता है। जब मनुष्य सोया रहता है तब यह क्रिया नहीं चलती। दर्शनाचार्य का 'ध्यान' जीवन की समस्याओं की ओर रहता है। दर्जी का 'ध्यान' सिलाई करते समय मशीन की ओर रहता है। ड्राइवर का 'ध्यान' मोटर चलाते समय सड़क की ओर रहता है। विद्यार्थी का 'ध्यान' परीक्षा के समय पाठ्यपुस्तक की ओर रहता है।

'ध्यान' की दूसरी विशेषता 'चुनाव करना' है। चुनाव करने की क्रिया को ड्रिवर ने मनुष्य का स्वभाव माना है। बहुतेरी वस्तुएँ चारों ओर रखी हैं। सबको ओर ध्यान नहीं जाता। उनमे से कुछ वस्तुएँ चुन ली जाती हैं और उन्हीं की ओर ध्यान जाता है। बात यह है कि ध्यान की परिधि सीमित है। सब वस्तुओं की ओर एक साथ और एक ही मात्रा मे ध्यान नहीं जाता। रुचि का प्रश्न रहता है। जिन वस्तुओं की ओर रुचि रहती है उनकी ओर ध्यान जाता है। वस्तुओं मे कुछ अपनी विशेषताएँ भी रहती हैं जिनके कारण उन्हें चुना जाता है। जो वस्तुएँ नयी होती हैं, परिवर्त्तित होती रहती हैं, और जो अद्भुत हैं, उधर ध्यान विशेषकर जाता है।

ध्यान की तीसरी विशेषता 'स्पष्टीकरण' है। जब ध्यान किसी वस्तु-विषय या विचार की ओर केन्द्रित होता है तब उस वस्तु-विषय या विचार का स्पष्ट बोध हो जाता है। टिचनर का कथन है कि ध्यान की समस्या 'स्पष्ट करना' है।* ध्यान के दो भाग हैं: केन्द्रीय और सीमान्त

* "The problem of attention centres in the fact of sensible clearness."—Titchner.

भाग। जो वस्तु-विषय या विचार ध्यान के केन्द्रीय भाग मे होता है वह स्पष्ट रहता है। केन्द्र मे होने के कारण उसके स्वभाव-स्वरूप पर विचार होता है, उसका विश्लेषण होता है और इस प्रकार वह स्पष्ट हो जाता है। जो सीमान्त भाग मे होता है वह वर्त्तमान मे ध्यान का विषय नहीं रहता। परन्तु किसी समय भी, स्थिति बदलते ही, वह ध्यान-केन्द्र मे पहुँच जा सकता है। ध्यान-केन्द्र मे पहुँचते ही वह स्पष्ट हो जाता है। शिक्षक को यह देखना है कि जिस विषय की वह शिक्षा दे रहा है वह बालक के ध्यान-केन्द्र मे है अथवा नहीं। उसकी कुशलता की परख है कि वह यत्न करके विषय को बालक के ध्यान-केन्द्र में लावे। जब ध्यान-केन्द्र मे विषय आ जाता है तब बालक को उसका ठीक ज्ञान हो जाता है।

प्रारंभ मे बालक का ध्यान किस ओर आकर्षित होता है यह उसकी वृत्ति पर निर्भर है। गुड़िया देखी और उसे लेने के लिये दौड़ पड़ा। लाल हरा चमकीला वस्त्र देखा और मुस्कुरा पड़ा। शिक्षक को चाहिये कि वह शिक्षा के विषय को बालक के सम्मुख इस रूप मे प्रस्तुत करे कि उसकी जिज्ञासा, आत्मप्रतिपादन इत्यादि वृत्तियाँ प्रेरित हों। तब बालक का ध्यान स्वतः शिक्षक की ओर जायेगा। बालक का ध्यान पहले स्वतः और अनैच्छिक प्रकार का होता है। बाद मे उसका ध्यान उस वस्तु या विचार की ओर खिंचता है जिसके लिये उसके मन मे 'स्थायीभाव' बन जाता है। बालक की जो हौबी है उससे संबंधित करके शिक्षक को नये विषय का ज्ञान कराना चाहिये। धीरे-धीरे वह बालक मे बौद्धिक स्थावीभाव की नीव डाल दे सकता है। आगे चलकर अभ्यास से बालक किसी भी वस्तु-विचार की ओर ध्यान देने लगता है। शिक्षा के लिये ऐच्छिक ध्यान (वौलन्टरी अटेन्शन) का विकास आवश्यक है।

ध्यान का संबंध रुचि से बहुत है। जिस वस्तु-विषय या विचार

की ओर ध्यान जाता है उसमे रुचि अवश्य होगी और जिसमे रुचि होगी वहाँ ध्यान जाना अवश्यम्भावी है। मैकडूगल का कथन है कि रुचि अव्यक्त ध्यान है, और ध्यान रुचि का क्रिया मे रूपान्तर होना है। 'रुचि' शब्द का प्रयोग तीन अर्थ मे किया जा सकता है। एक तो, यह बाह्य (औबजेक्टिव) है। रुचि किसी बाहरी वस्तु मे होती है, जैसे किसी व्यक्ति की रुचि फोटोग्राफी मे है। दूसरे, यह आभ्यन्तरिक (सब्जेक्टिव) है—वह अनुभव जो फोटोग्राफी करने मे होता है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक स्टाउट ने 'रुचि' शब्द का प्रयोग आभ्यन्तरिक अर्थ मे किया है। उनके अनुसार यह अनुभव की संवेगात्मक और क्रियात्मक अवस्था व्यक्त करती है। ड्रिवर के अनुसार 'रुचि' वह अनुभव है जिसमे संवेगात्मक अवस्था की प्रधानता रहती है। यदि रुचि किसी व्यक्ति का अनुभव मात्र है तो इसका अर्थ होगा कि जबतक वह व्यक्ति अनुभव करता है उसकी रुचि उस वस्तु मे रहती है और जब वह दूसरे वस्तु का अनुभव करने लगता है तब उसकी रुचि नहीं रह जाती। तीसरे, रुचि का संकेत मन की स्थायी अवस्था से है। यह अर्थ सबसे अधिक वैज्ञानिक है।

रुचि

रुचि प्रायः दो प्रकार की वस्तुओं की ओर होती है: एक, जिन वस्तुओं की ओर जन्मदत्त प्रवृत्ति होती है; और दो, जिनके लिये मन मे स्थायीभाव होता है। बालक की रुचि भोजन मे होती है क्योंकि उसमे भोजन की जन्मदत्त वृत्ति है; साथियों मे रुचि होती है क्योंकि उसमे समूह मे रहने की वृत्ति है; और दूसरों पर हुकूमत रखने मे रुचि होती है क्योंकि उसमे आत्मप्रतिपादन की वृत्ति है। ये सब जन्मदत्त रुचि के उदाहरण हैं। जिस व्यक्ति मे देश-भक्ति का स्थायीभाव बनता

"To have an interest in any object is, then to be ready to pay attention to it."

"An interest is a disposition in its dynamic aspect."

है उसमे देश के सुधार के कार्य मे रुचि उत्पन्न हो जाती है। यह अर्जित रुचि है। जब बालक की वृत्ति को प्रभावित करके उसे शिक्षा दी जाती है तब शिक्षा के प्रति उसमे जन्मदत्त रुचि होती है। यदि यह न हो सके तो स्थायीभाव उत्पन्न करने का प्रयत्न करना चाहिये; और शिक्षा के विषय को स्थायीभाव से सम्बन्धित करके उसमे रुचि उत्पन्न करने का प्रयत्न करना चाहिये। रुचि उत्पन्न होने पर शिक्षा की ओर स्वतः ध्यान खिंच जाता है। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि जिधर रुचि रहती है उधर ध्यान अवश्य जाता है। किन्तु जब बालक मे शिक्षा की ओर न तो जन्मदत्त रुचि रहती है और न अर्जित तब विकट समस्या उठती है कि बालक का ध्यान शिक्षा की ओर किस प्रकार लगाया जाय।

रुचि के सम्बन्ध मे यह ध्यान रखना है कि 'रुचि' और 'सुख-भाव' पर्यायवाची शब्द नहीं हैं। जिस वस्तु मे रुचि है उसमे वेदना का अनुभव हो सकता है। संक्रामक रोग रहने पर भी माता-पिता की सेवा-शुश्रूषा पुत्र करता है। यह इसलिये नहीं कि उसे सुख मिलता है; हाँ माता-पिता मे जन्मदत्त रुचि होने के कारण वह उनकी सेवा करता है। इस प्रकार रुचि होने का अर्थ सुख की भावना का अनुभव करना ही नहीं है।

जिस कार्य मे रुचि रहती है उसे करने के लिये प्रेरणा-बल मिलता है; रुचि न रहने पर प्रेरणा-बल नहीं मिलता और वह व्यक्ति उस कार्य से ऊब जाता है। ऊबने पर मानसिक थकान आती है और वह व्यक्ति अपने को उस ओर ध्यान देने मे असमर्थ पाता है। मानसिक थकान किसी कार्य की ओर अधिक देर तक ध्यान देने से नहीं आती। मानसिक थकान रुचि के अभाव मे आती है। प्रायः देखा जाता है कि ध्यान बँटानेवाली स्थिति मे रहते हुये यदि बालक की रुचि उस कार्य मे है जिसे वह कर रहा है तो उसका ध्यान नहीं बँटता। बाहर कोलाहल होते हुये भी अध्ययन मे रुचि रखनेवाला विद्यार्थी अपनी पुस्तक मे

संलग्न रहता है। घण्टों पुस्तक पढ़ता रहता है और नहीं थकता। रुचि से शक्ति का केन्द्रीयण होने के कारण बौद्धिक क्षमता भी बढ़ जाती है। यदि कोई कार्य वह कर रहा है तो कुशलता से करेगा।

इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि बालक को उस विषय और कार्य की शिक्षा दी जाय जिसमे उसकी रुचि हो। कुछ मनोवैज्ञानिक इस विचार से सहमत नहीं हैं। 'सौफ्ट पैडेगौगी' कहकर उन्होंने इसका घोर विरोध किया है। उनका मत है कि जो विषय जटिल है और जिसमे बालक की रुचि नहीं है उसे अध्ययन करने के लिये बालक को बाध्य करना आवश्यक है। सर्वदा रुचिकर विषय देने से बालक आरामतलब हो जाता है। जिस विषय मे रुचि नहीं है उसका अध्ययन करने से मानसिक व्यायाम होता है। जटिल समस्या को सुलझाने की माद्दा का उसमे विकास होता है।

बालक का ध्यान शिक्षा की ओर आकर्षित करने के लिये पहली बात यह है कि शिक्षक को बालक से यह स्पष्ट कर देना चाहिये कि

ध्यान जीतने की युक्तियाँ

जिस विषय या कार्य की ओर वह उसका ध्यान ले जाना चाहता है वह उसके बड़े प्रयोजन का है। इससे वह बड़ा आदमी बनेगा, अच्छी नौकरी पावेगा और दूसरों की आँखों मे सम्मानित होगा। बालक स्वभाव से स्वार्थी होता है। जब वह यह समझेगा कि शिक्षक उसके लाभ की बातें कह रहा है तब उसका ध्यान उस ओर जायेगा। अध्यापक के व्याख्यान मे वह रुचि लेगा। पुरस्कार का प्रलोभन देने से भी शिक्षा की ओर ध्यान जाता है।

दूसरी बात यह है कि शिक्षक को यह भी दिखलाना चाहिये कि शिक्षा से ही उसके आदर्श और उद्देश्य की सिद्धि हो सकती है। इससे ऐच्छिक ध्यान (वौलन्टरी अटेन्शन) का विकास होगा। बालक मे कुशल वक्ता बनने की तीव्र इच्छा थी। शिक्षक ने बतलाया कि यह

तभी सम्भव है जब वह मैकॉले और बर्क के भाषण पढ़ने योग्य हो जाय। उसे जब यह निश्चय हो गया कि बिना पढ़े उसके आदर्श की सिद्धि नहीं हो सकती, उसकी रुचि अध्ययन मे उत्पन्न हो गयी और वह अध्ययन मे संलग्न हो गया। दूसरा बालक कलाकार बनना चाहता था। उसका झुकाव अध्ययन की ओर नहीं था। शिक्षक ने बालक को परामर्श दिया कि वह पहले ड्राइंग बनावे और लिखना-पढ़ना सीखे। यदि वह अपने को कला-साहित्य और इतिहास पढ़ने योग्य नहीं बनाता तो वह कलाकार नहीं बन सकता।

शिक्षा की ओर ध्यान आकर्षित करने के लिये तीसरी बात यह है कि शिक्षक को सरल शब्दों और छोटे वाक्यों का प्रयोग करना चाहिये जो बालक के मानसिक स्तर के अनुकूल हैं। शिक्षक जब कठिन शब्दों और बड़े वाक्यों का प्रयोग करता है, बालक का ध्यान इधर-उधर बँटने लगता है। गणित मे छोटी संख्या से गुणा-भाग सिखलाना प्रारम्भ करना चाहिये। इससे वह जल्दी सीखेगा और उसमे विषय की ओर भय नहीं उत्पन्न होगा। यदि प्रारम्भ मे ही घबड़ा गया तो उसकी रुचि गणित मे कभी नहीं उत्पन्न हो सकती। बालक के मानसिक विकास का ध्यान रखकर उसके अनुकूल क्रम और व्यवस्था के साथ उसको शिक्षा देनी चाहिये।

बालक का ध्यान आकर्षित करने के लिये चौथी बात यह है कि शिक्षक इस प्रकार विषय को प्रस्तुत करे कि बालक का ध्यान स्वतः उस ओर खिंच जावे। बालक की रुचि स्वभावतः कहानी मे होती है। कहानी के रूप मे विषय प्रस्तुत करने से बालक का ध्यान खिंचता है और वह विषय का ज्ञान प्राप्त करता है। जाड़े के मौसम मे अँगीठी जलाकर घर के बड़े-बूढ़े जब बच्चों से परियों के देश की कहानी कहते हैं, वे बड़े ध्यान से सुनते हैं। बचपन मे ध्यान 'स्वतः प्रकार' (स्पॉन्टेनियस टाइप) का होता है।

उपरोक्त बातों से बालक के ध्यान पर विजय पाया जा सकता है और उसका ध्यान चाहे जिस ओर लगाया जा सकता है। बालक का ध्यान बाह्य और आभ्यन्तरिक अवस्थाओं से भी प्रभावित होता है। नवीनता, तीव्रता, परिवर्त्तन-शीलता और विचित्रता बाह्य अवस्थाएँ हैं; रुचि, स्वभाव और पैतृक विशेषता आभ्यन्तरिक हैं। बालक नया खिलौना देखते ही उसे लेने के लिये दौड़ पड़ता है। जिस खिलौने से वह खेल चुका है उधर उसका ध्यान नहीं जाता। तेज रोशनी, तेज आवाज की ओर ध्यान आपोआप जाता है। खद्दर की सारी पहनने वाली बालिका यदि जॉर्जेट की साड़ी पहन कर आती है तो अन्य बालिकाओं का ध्यान उसकी ओर खिंच जाता है। तारा को टूटते देखकर ध्यान तुरत उधर चला जाता है। इसी प्रकार विचार मे संलग्न किसी व्यक्ति की कुर्सी यदि हिलने लगती है तो उसकी विचार-धारा टूट जाती है और उसका ध्यान कुर्सी की ओर जाता है। आभ्यन्तरिक अवस्थाओं मे रुचि पर पहले ही प्रकाश डाला जा चुका है। बालक किस ओर ध्यान देगा, यह उसके स्वभाव पर भी निर्भर है। जो स्वभाव से अन्तर्मुखी है वह भावुक कविता को देखते ही उसमे अपने को भूल जाता है; और जो बहिर्मुखी है उसका ध्यान खेल के मैदान की ओर जाता है।

शिक्षक को बालक के ध्यान के विस्तार (स्पैन ऑफ अटेन्शन) का भी ज्ञान होना चाहिये—यह कि एक समय मे कितनी वस्तुओं की ओर वह ध्यान दे सकता है। सामान्यतः एक समय मे एक ही वस्तु की ओर ध्यान दिया जा सकता है। प्रश्न है, किस प्रकार नैपोलियन कई पत्र एक साथ लिखवाता था ? यह तो अभ्यास और शिक्षा की बात है। अभ्यास होने के कारण वह एक विषय से दूसरे विषय पर अपना ध्यान जल्दी बदल लेता था। इसके अतिरिक्त, एक वस्तु मे उससे संबंधित वर्ग की कई वस्तुएँ आ सकती हैं और इस प्रकार भी एक समय मे मनुष्य चार-

ध्यान-विस्तार

पाँच वस्तुओं की ओर ध्यान दे सकता है। जब शिक्षक यह जानता है कि बालक का ध्यान सीमित है, वह उसके अनुसार अपनी शिक्षा-विधि निर्धारित करता है। एक समय मे एक विषय को पढ़ाने से बालक अधिक लाभ उठा सकता है, यद्यपि यह सत्य है कि बालक का ध्यान बहुत देर तक एक वस्तु-विषय या विचार पर नहीं जमा रहता। प्रयोग करने पर पता लगा है कि हर पाँच छ सेकन्ड पर ध्यान हटता है और फिर उसी ओर जा सकता है। यदि हम संलग्नता के साथ किसी व्याख्यान को साठ मिनट तक सुनते हैं तो उसका भी यही विश्लेषण है। इसलिये बालक का ध्यान बँटते देखकर शिक्षक को निराश नहीं होना चाहिये। उसे तो विषय इस रूप से प्रस्तुत करना है कि बालक की रुचि बनी रहे और वह ध्यान देता रहे। बालक का ध्यान किसी न किसी वस्तु-विषय या विचार की ओर अवश्य लगा रहता है। ऐसी स्थिति कभी नहीं रहती कि वह शून्य बैठा रहे और उसका ध्यान किसी ओर न रहे। शिक्षक का कार्य है कि वह बालक के ध्यान को दूसरे विचार-विषय से हटाकर जो विषय वह सिखलाना चाहता है उधर की ओर खींचे। इसी मे शिक्षक की सफलता है।

स्मृति

यह तो सामान्य अनुभव की बात है कि जिस बालक की स्मृति का उपयुक्त विकास होता है वह ज्ञान की उपलब्धि आसानी से कर लेता है—कक्षा मे उत्तीर्ण होता है, दूसरों से तर्क करता है और गूढ़ समस्याओं पर विचार करता है। जिसकी स्मृति का उपयुक्त विकास नहीं होता वह कक्षा मे उत्तीर्ण नहीं होता, पुस्तक को बार-बार पढ़ने पर भी भूल जाता है और तर्क मे भाग नहीं ले सकता। बौद्धिक विकास के लिये स्मृति का विकास आवश्यक है। प्रश्न यह होता है कि स्मृति पैदायशी विशेषता है या अर्जित और इसमे सुधार करना सम्भव है या नहीं। मनोवैज्ञानिकों का बहुमत है कि स्मृति पैदायशी विशेषता है और इसमे सुधार नहीं किया जा सकता। मानव मे व्यक्तिगत भेद होता है। कुछ व्यक्तियों के मस्तिष्क की बनावट इस प्रकार की है कि वे अपने अनुभव को मन मे अधिक समय तक रख सकते हैं; कुछ कम ही समय तक; और कुछ तुरत ही भूल जाते हैं। दो व्यक्ति कभी भी, किसी दृष्टि से, समान नहीं होते। जिस प्रकार रूप-रंग-आकार मे भेद होता है, उसी प्रकार मानसिक क्रियाओं मे भी भेद रहता है। एक व्यक्ति कल्पना की प्रचुरता होने के कारण सुन्दर काव्य की रचना कर सकता है, दूसरा नहीं कर सकता; एक गीता के श्लोकों को कंठाग्र करके सुना सकता है, सम्भव है दूसरा न कर सके। इतना अवश्य है कि स्मृति को अच्छा बनाये रखने के लिये हमे मस्तिष्क को आघात से बचाये रखना है।

स्मृति के चार अंग हैं—रेखा, ग्रहण, पुनरावृत्ति और पहिचानना। इनमे से ग्रहण करने, पुनरावृत्ति करने और पहिचानने की क्रियाओं मे प्रयास करने पर भी सुधार नहीं होता। कुछ मनोवैज्ञानिकों ने तो ग्रहण करने की क्रिया को शारीरिक गुण माना है। हाँ, सीखने की जो रेखा

पड़ती है, जिसके लिए अंग्रेजी का पारिभाषिक शब्द 'एनग्राम' है, उसमे प्रयत्न से सुधार किया जा सकता है। ग्रहण करना, पुनरावृत्ति करना और पहिचानना—ये क्रियाएँ बहुत कुछ इस पर निर्भर करती हैं कि सीखने की रेखा स्पष्ट है अथवा नहीं। इस कारण स्मृति मे एक प्रकार से सुधार लाया जा सकता है और एक प्रकार से नहीं। फिर भी, इस बात से सभी मनोवैज्ञानिक सहमत हैं कि शिक्षा मे वैज्ञानिक विधि का प्रयोग करने से कुछ न कुछ लाभ अवश्य होता है। मैकडूगल ने इस विषय पर विचार किया कि 'अभ्यास' का स्मृति पर क्या प्रभाव पड़ सकता है और यह निष्कर्ष निकाला कि अभ्यास से ग्रहण करने की शक्ति मे सुधार लाया जा सकता है।

स्मृति के अंग

बालक की स्मृति के विकास के लिये उन सब बातों पर विचार करना है जिनका स्मृति पर प्रभाव पड़ता है। जब बालक स्मरण करने का प्रयत्न करता है, पहले उसके मस्तिष्क मे उसकी 'रेखा' पड़ती है। रेखा जितनी गहरी और स्पष्ट होगी बालक को स्मरण करने मे उतनी ही सुविधा होगी। रेखा का स्पष्ट होना बहुत कुछ रुचि पर निर्भर है। जिस विषय मे रुचि रहती है उसकी रेखा स्पष्ट पड़ती है। यदि बालक की रुचि गणित मे है, उसके मस्तिष्क मे गणित की रेखा बहुत स्पष्ट पड़ेगी; यदि उसकी रुचि कला मे है, सुन्दर चित्र-कला को देखते ही उसकी रेखा उसके मन मे बन जायगी। यदि बालक की रुचि गणित मे नहीं है, वह गणित के फॉरमूले याद न रख सकेगा। चित्र-कला मे रुचि न रहने पर कला-भवन मे जो कुछ उसने देखा है उसे वह भूल जायगा। इस कारण जब कभी बालक को कोई कविता स्मरण करने के लिये दी जाय तो पहले इस प्रकार का वातावरण उपस्थित करना चाहिये कि उस कविता की रेखा उसमे अमिट पड़ जाय। यदि रेखा स्पष्ट न रही तो वह उस कविता को स्मरण नहीं रख सकेगा। रेखा

स्पष्ट होने से ग्रहण करने की क्रिया ठीक से होती है। मस्तिष्क मे वह उन्हीं बातों को स्थायी रूप से रखता है जो स्पष्ट प्रभाव डालती हैं। 'ग्रहण करना' एक शारीरिक गुण रहते बहुत कुछ रेखा पर निर्भर है। ग्रहण करने के बाद पुनरावृत्ति की क्रिया प्रारम्भ होती है। 'पुनरावृत्ति' का अर्थ है, जिस किसी घटना या विषय को जिस रूप मे अनुभव किया है उसका उसी रूप मे बिना अपनी ओर से जोड़े-घटाये वर्णन करना। जब आवश्यकता पड़ती है, बालक अपने पिछले अनुभव की पुनरावृत्ति करता है। रेखा के स्पष्ट होने और ग्रहण करने की शक्ति—दोनों पर पुनरावृत्ति निर्भर है। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने भावना-ग्रन्थियों का महत्व इस प्रसंग मे दिखलाया है। जब मन के निचले स्तर मे अधिक भावना-ग्रन्थियाँ पड़ जाती हैं, मनुष्य पुनरावृत्ति नहीं कर पाता। विषय ग्रहण हुआ रहता है परन्तु पुनरावृत्ति नहीं हो पाती। इस तरह ग्रहण करने की समस्या से पुनरावृत्ति की समस्या अधिक जटिल है। स्मृति का चौथा अंग पहचानना है। अपने कॉलेज की इमारत देखते ही, पिछले परिचय के कारण, विद्यार्थी पहचान लेता है कि यह उसका कालेज है। अभ्यास के द्वारा पहचानने मे भी सुधार किया जा सकता है। ग्रहण करने की क्रिया की तरह पुनरावृत्ति करने और पहचानने की क्रियाएँ भी बहुत कुछ सीखने की रेखा पर निर्भर हैं। यदि किसी कार्य को ध्यान देकर नहीं सीखा जाता या किसी अनुभव या घटना की स्पष्ट और तीव्र रेखा मस्तिष्क मे नहीं बनती तो विद्यार्थी बहुत कम सीखता है और जो कुछ सीखता भी है वह भूल जाता है। कुछ मनोवैज्ञानिकों ने पहचानना को स्मृति का आवश्यक अंग माना है; कुछ ने केवल तीन अंग माने हैं। वास्तव मे पहचानना स्मृति का आवश्यक अंग नहीं है। यह पुनरावृत्ति से सरल है। विद्यार्थी प्रायः पिछली घटना की पुनरावृत्ति नहीं कर पाता; किन्तु यदि वही घटना फिर घटती है या उसी वस्तु को वह फिर देखता है तो वह उसे पहचान अवश्य लेता है।

बालक को शिक्षा देने के लिए उसकी स्मृति का विकास आवश्यक है। इस कारण यहाँ इस बात पर विचार करना है कि शिक्षा मे स्मरण करने के लिए जो विधियाँ हैं उनका मनोविज्ञान की दृष्टि से क्या मूल्य है। बालक की स्मृति-विकास के लिए कोई शिक्षक समग्र-विधि का प्रयोग करता है; कोई खण्ड-विधि का; और कोई मिश्रित-विधि का भी प्रयोग करता है। जब शिक्षक समग्र-विधि का प्रयोग करता है, वह बालक से पूरी कविता एक साथ याद करने के लिए कहता है। बालक पूरी कविता को बार-बार पढ़ता है और दुहराता है और उसकी आवृत्ति तब तक करता रहता है जबतक उसे वह कविता कण्ठाग्र नहीं हो जाती। जब बालक को शिक्षा देने मे शिक्षक खण्ड-विधि का प्रयोग करता है, वह पूरी कविता को कई भाग मे बाँटकर बालक को याद करने का आदेश देता है। कविता के एक भाग की आवृत्ति बालक तब तक करता रहता है जबतक वह कविता के उस भाग को कण्ठाग्र नहीं कर लेता। फिर दूसरा भाग याद करता है और दूसरे भाग की आवृत्ति वह तबतक करता है जबतक उसे वह भाग भी कण्ठाग्र नहीं हो जाता। जब शिक्षक मिश्रित-विधि का प्रयोग करता है तब बालक से पहले पूरी कविता दो-चार बार पढ़ लेने के लिए कहता है और फिर कविता को कई भाग में बाँटकर याद करने के लिए कहता है। समग्र-विधि से याद करने मे लाभ यह रहता है कि बालक कविता के एक भाग और दूसरे भाग मे सम्बन्ध बना लेता है। एक पद कहने के बाद दूसरा पद कहने मे वह भूल नहीं करता। जब कविता छोटी रहती है तब समग्र-विधि ही अच्छी ठहरती है। वुडवर्थ ने प्रयोग द्वारा यह निष्कर्ष निकाला है कि समग्र-विधि से २४० लाइन तक की कविता कम समय मे आसानी से याद की जा सकती है। जब कविता की परिधि इससे बड़ी हो तभी दूसरी विधि के प्रयोग से सफलता हो सकती है। अन्यथा समग्र-विधि अधिक

स्मृति-विधि

सफल होती है। समग्र-विधि से कविता याद करने पर बालक को कविता का अर्थ स्पष्ट हो जाता है और कविता का भाव और अर्थ जान लेने पर कविता जल्दी और आसानी से याद होती है। यह प्रमाणित करने के लिए कि अर्थ जानने पर सीखना आसान हो जाता है, जेस्ट्राव स्मृतियन्त्र का प्रयोग किया गया है। अर्थयुक्त और अर्थहीन शब्दों की दो सूची बारी-बारी से दिखला कर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि जब बालक को कविता का अर्थ ठीक से नहीं मालूम रहता तब वह कविता जल्दी याद नहीं कर सकता। समग्र-विधि का प्रयोग करने से केवल स्मृति का ही विकास नहीं होता, इससे सामान्य मस्तिष्क का भी विकास होता है। समग्र-विधि मे दोष यह है कि कविता का जो भाग सरल रहता है और जल्दी याद हो सकता है उसे भी बार-बार दुहराना पड़ता है। समय व्यर्थ जाता है। बड़ी कविता होने पर मन उचट जाता है। यदि बालक अपने को उन्नति करते नहीं पाता तो वह निराश भी हो जाता है।

खण्ड-विधि का प्रयोग करने से बालक की रुचि कविता में बनी रहती है। उसे सन्तोष रहता है कि वह सीख रहा है। यदि कविता बड़ी है और छोटे बच्चों को याद कराना है तब खण्ड-विधि ही उपयुक्त ठहरती है। दोष यह है कि थोड़ा-थोड़ा याद करने से कविता के पहले पद के आखिरी शब्द और दूसरे पद के पहले शब्द मे सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाता। इस कारण जब बालक को पूरी कविता सुनानी पड़ती है, वह भूलें करता है। हर एक पद के बाद अटकता रहता है।

कण्ठाग्र करने के लिए समग्र और खण्ड-विधि का मिश्रण सबसे उत्कृष्ट विधि है। शिक्षक को बालक से पहले पूरी कविता को दो-चार बार पढ़ लेने के लिए कहना चाहिये। जब कविता का सार बालक समझ जाय तब खण्ड-विधि के प्रयोग से कविता को कई भागों में बाँट कर उसे याद कराना चाहिए।

स्मृति-विकास के सम्बन्ध मे यह भी प्रश्न होता है कि बालक के

लिए लगातार विधि से कविता कंठाग्र करना उत्तम है या अवकाश-विधि से। 'लगातार विधि' मे बालक को कई घण्टे तक एक साथ प्रति-दिन, जबतक याद न हो जाय, कविता रटना पड़ता है। 'अवकाश-विधि' मे बालक कुछ देर तक पाठ या कविता स्मरण करने का प्रयत्न करता है और फिर रख देता है; दूसरे कार्य मे लग जाता है और दूसरे दिन फिर याद करने का प्रयत्न करता है। फिर दो-तीन दिन बाद कविता की आवृत्ति करता है। जब कविता छोटी रहती है तब लगातार विधि का सफलता से प्रयोग किया जा सकता है; किन्तु जब कविता लम्बी रहती है, अवकाश-विधि अधिक उपयुक्त होती है। लगातार कई घण्टे तक बिना विश्राम लिये कंठाग्र करने का प्रयत्न करने से मानसिक थकान आती है, बालक ऊब जाता है और सम्भव है कि वह आवृत्ति मे भूलें करने लगे। अवकाश-विधि का प्रयोग करने से बालक की रुचि विषय मे बनी रहती है। वह ऊबता नहीं और जो कुछ स्मरण करता है उसे दृढ़ रूप से वह मन मे बैठाता जाता है। ज्ञान का आत्मीयकरण हो जाता है। शिक्षक को अवकाश-विधि का उपयोग करते समय दो तीन बात ध्यान मे रखनी चाहिये। पहली बात यह है कि कविता याद करने का समय बहुत कम न रहे और आवृत्ति भी एक ही दो बार न की जावे। यदि आवृत्ति केवल दस मिनट के लिये की जाती है और दो तीन बार ही की जाती है तो बालक लाभ नहीं उठा सकता। दूसरी बात यह है कि अवकाश का समय बहुत अधिक न होवे। शिक्षक ने बालक से कोई कविता स्मरण करने के लिये अभी कहा और उसकी आवृत्ति एक हफ्ते के बाद, तो अभी जो रेखा बालक के मस्तिष्क मे बनी है वह इतने समय के बाद धुँधली पड़ जायगी। प्रारम्भ मे आवृत्ति कम अवकाश पर होनी चाहिये।

किसी अनुभव या घटना को स्मरण करने के लिये यह भी नियम है कि उस अनुभव या घटना को दूसरे अनुभव या घटना से सम्बन्धित

संबंध-नियम करके स्मरण किया जाय। जब एक अनुभव या घटना को दूसरे अनुभव या घटना से सम्बन्धित करके स्मरण करने का प्रयत्न किया जाता है तब एक अनुभव दूसरे अनुभव का स्मरण दिलाता है। यही सम्बन्ध-नियम है और यह तीन प्रकार से होता है:—

१. साहचर्य-नियम
२. वैपरीत्य-नियम
३. सादृश्य-नियम

नैपोलियन और वाटरलू, अहिंसा और महात्मा गांधी मे साहचर्य्य का सम्बन्ध है। वाटरलू का प्रसंग आते ही नैपोलियन का स्मरण आ जाता है; अहिंसा के सिद्धान्त का प्रसंग आते ही महात्मा गांधी या बुद्ध का स्मरण आ जाता है। नैपोलियन से वाटरलू और अहिंसा से महात्मा गांधी का स्मरण करने के लिये उद्यम नहीं करना पड़ता। एक की उपस्थिति से दूसरे की याद आती है। इस कारण बालक को जो विषय पढ़ाना हो उसे उस विषय से सम्बन्धित करके पढ़ाना चाहिये जिससे बालक परिचित है।

काला और सफेद, युद्ध और शान्ति, अन्धकार और प्रकाश, दुःख और सुख मे विपरीतता का सम्बन्ध है। काला से सफेद, युद्ध से शान्ति, अन्धकार से प्रकाश और दुःख से सुख का स्मरण आसानी से कराया जा सकता है। राणा प्रताप का देश-प्रेम और राजा जयचन्द का देश-द्रोह एक साथ आसानी से याद किया जा सकता है। इस कारण बालक को किसी विषय का ज्ञान कराते समय उस विषय के विपरीत जो धारणा होती है उसको अवश्य बतलाना चाहिये। वैपरीत्य-सम्बन्ध के नियम को ध्यान मे रखने से केवल स्मृति का ही विकास नहीं होता, वरन् विषय को समझने मे और ज्ञान प्राप्त करने मे भी लाभ होता है।

कुछ वस्तुओं मे सादृश्य का संबंध होता है। नैपोलियन और हिट-

लर मे समानता है। दोनों ही वीर योद्धा थे—वीरता के गुण का उनमे साम्य था। इस समानता के होने से एक का दूसरे से स्मरण आ जाता है। चँगेज़ खाँ से तैमूर लंग की याद आती है क्योंकि दोनों ही क्रूरता के लिये प्रसिद्ध हैं। यदि बालक को ऐसी वस्तुओं से परिचय कराना है जो समान हैं तो सामान्य गुण के द्वारा एक दूसरे को संबंधित करके आसानी से उनका परिचय कराया जा सकता है। विषय का तुलनात्मक अध्ययन करने से ज्ञान की उपलब्धि मे आसानी पड़ती है।

उपरोक्त संबंध-नियमों से शिक्षक को पूर्णतः परिचित होना चाहिये। तभी शिक्षा देते समय वह बालक के सम्मुख विषय को ठीक से रखेगा। जब वह विषय को संबंधित रूप मे बतलाता है तब बालक को समझने मे और स्मरण रखने मे आसानी पड़ती है; जब वह सब विषय का परिचय स्वतंत्र रूप मे बिना संबंधित किये बतलाता है तब बालक को समझने और स्मरण करने मे देर लगती है। बात यह है कि ज्ञान संबंधित होता है—एक वस्तु का ज्ञान दूसरे वस्तु से संबंधित करने पर ही होता है। नये विषय-वस्तु को परिचित विषय वस्तु से संबंधित करके जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह समृद्ध होता है। शिक्षा मे संबंध-नियम के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त का बहुत महत्व है।

यह पहले बतलाया जा चुका है कि प्रत्यक्षीकरण मे बाह्य वस्तु का इन्द्रिय से सम्पर्क होता है। प्रत्यक्षीकरण के लिये बाह्य-वस्तु का इन्द्रिय से सम्पर्क होना अनिवार्य है। जब बाह्य वस्तु का इन्द्रिय से सम्पर्क नहीं होता, केवल अनुभव के आधार पर मस्तिष्क मे उस वस्तु की रेखा विद्यमान हो जाती है तब इसे मानसिक प्रतिमा कहा जाता है।

मानसिक प्रतिमा नारंगी सामने नहीं है, फिर भी नारंगी के बारे मे बातें करते समय इसकी प्रतिमा सामने है कि नारंगी गोल होती है, रंग मे पीली होती है, स्वाद मे मीठी और स्पर्श मे चिकनी होती है। बालक ज्यों-ज्यों बड़ा होता है, उसके ज्ञान का क्षेत्र बढ़ता

जाता है। उसके लिये हरएक वस्तु का हर समय प्रत्यक्षीकरण करना संभव नहीं रह जाता; वह अधिकतर मानसिक प्रतिमाओं का ही प्रयोग करता है। जब तक ज्ञान सीमित रहता है, प्रत्यक्षीकरण आवश्यक होता है; जब ज्ञान विस्तृत हो जाता है, सारा विचार और तर्क मानसिक प्रतिमाओं के द्वारा होता है।

प्रतिमा कई प्रकार की होती हैं ; दृश्य-प्रतिमा, श्रव्य-प्रतिमा, स्पर्श-प्रतिमा, घ्राण-प्रतिमा और स्वाद-प्रतिमा। किसी बालक की दृश्य-प्रतिमा तीव्र रहती है, किसी की श्रव्य और किसी की स्पर्श। जिसकी दृश्य-प्रतिमा तीव्र रहती है वह सब वस्तुओं का चित्र मानसपटल पर बनाता है और उसी के आधार पर विचार और तर्क करता है। जिसमे श्रव्य-प्रतिमा तीव्र है वह सब वस्तुओं का चित्रण मानसपटल पर ध्वनि के रूप मे करता है। वह व्याख्यान से अधिक लाभ उठाता है। जिसकी स्पर्श-प्रतिमा तीव्र रहती है वह किसी वस्तु की तौल और फैलाव से उसका चित्र बनाता है। मनुष्य मे किसी अंग से संबंधित कम-से-कम एक प्रतिमा अवश्य तीव्र होती है और इस प्रतिमा विशेष का विकास करने से उसे आसानी से ज्ञान प्राप्त होता है। शिक्षक का कार्य यह ढूढ़ निकालना है कि किस बालक मे किस प्रतिमा की प्रधानता है। यह ध्यान में रखना है कि पाठशाला मे अनेक वर्ग के बालक होते हैं और सबकी अपनी विशेषता रहती है। इसलिये शिक्षक को व्यवस्था इस प्रकार रखनी है कि वह बालक की सब प्रतिमाओं के विकास का साधन देवे। इस तरह हरएक बालक, जिसमे जो भी प्रतिमा तीव्र है, लाभ उठा सकता है।

मानसिक प्रतिमा के उपयुक्त विकास पर बालक के ज्ञान की वृद्धि निर्भर है। विकास होने पर वह प्रत्यक्षीकरण के द्वारा तर्क और विचार नहीं करता; वह मानसिक प्रतिमाओं के द्वारा करता है। जितनी स्पष्ट और विकसित मानसिक प्रतिमाएँ होती हैं उतनी ही ऊँचे स्तरपर उसकी

विचार-क्रिया चलती है। अच्छे दार्शनिकों की तरह जीवन की हरएक समस्या पर वह वाद-विवाद कर सकता है। पुराने अनुभवों का चित्र वह मानस-पटल पर खींच लेता है और एक विचार से दूसरे विचार मे रमता है। प्रारंभ मे विचार स्थूल स्तर पर रहता है और बाद मे यह सूक्ष्म स्तर पर चलता है। जब विचार सूक्ष्म स्तर पर चलता है तब मानसिक प्रतिमाएँ अनिवार्य हो जाती हैं। मानसिक प्रतिमाओं के स्पष्ट और विकसित होने का अर्थ है कि उस व्यक्ति विशेष की सामान्य मानसिक अवस्था का विकास भरपूर हुआ है।

सीखना

सीखने का अर्थ है व्यवहार-आचरण और कार्य-कुशलता मे उपयुक्त परिवर्त्तन लाना।* जड़ और चेतन मे अन्तर है। जो जड़ है उसमे किसी प्रकार का परिवर्त्तन नहीं लाया जा सकता। आदान-प्रदान नहीं होता, क्रिया-प्रतिक्रिया नहीं होती। जड़ वस्तु तो स्थिर एकरूप रहती है। जो चेतन है उसमे कुछ न कुछ परिवर्त्तन होता रहता है। दो वर्ष से बालक जब चार वर्ष का होता है, उसमे बहुत कुछ परिवर्त्तन हो जाता है। वातावरण के प्रभाव से विकास होता है। वह कुछ न कुछ सीखता जाता है। इस तरह मनुष्य मे जन्मकाल से लेकर अन्त तक जो कुछ परिवर्त्तन होता रहता है वह सीखना है। वुडवर्थ की परिभाषा मे "सीखना वह क्रिया है जिससे एक व्यक्ति का किसी ओर, अच्छा हो या बुरा, विकास होता है और इससे उसका अनुभव पहले से पृथक् हो जाता है।"† सीखने के ही कारण बालक कुछ से कुछ रूप ले लेता है। सीखने का अर्थ पाठशाला और कॉलेज की शिक्षा नहीं है। यह कुछ और है। बालक अनभिज्ञ है। वह खरगोश को अपनी ओर आते देखता है। उसके मन मे कुतूहल होता है 'चलो इसे पकड़ लाऊँ और देखूँ यह क्या है'। वह दौड़ पड़ता है। खरगोश उसके हाथ पर दाँत लगाता है। अब बालक के अनुभव मे एक अन्तर आया। वह समझ गया कि ऐसी चीज के पास जाना ठीक नहीं है। यह खतरनाक होता है। इसी

* "Learning is modification of behaviour and skill."

† "Any activity may be called learning in so for as it develops the individual in any way good or bad and makes his environment and experiences different from what it would otherwise have been." *Woodworth.*

तरह बालक लाल अंगारे को सुन्दर खिलौना समझकर उठाना चाहता है। उसका हाथ जलता है। अब वह डरने लगता है। वह समझ जाता है कि इस रूप और आकार की चीज से हाथ जलता है और इससे दूर रहना चाहिए। यह सीखना हुआ। सीखने से मनुष्य को जानकारी होती है और वह कार्य करने मे निपुण होता है।

किसी व्यक्ति मे सीखने की सामर्थ्य अधिक रहती है और किसी मे कम। यह बहुत कुछ उसकी बुद्धि और स्वभाव पर निर्भर है। जिसमे बुद्धि अधिक रहती है वह अधिक सीखता है। सूक्ष्म विषय पर मनन करता है और किसी भी कार्य को करने की युक्ति निकालने और जानने का प्रयत्न करता है। जिसमे बुद्धि कम रहती है वह कम सीखता है और साधारण कार्य सीखता है। बौद्धिक स्तर पर कार्य नहीं सीखता। इसी प्रकार जो व्यक्ति स्वभाव से सक्रिय रहते हैं वे बहुत कुछ अनुभव से सीखते हैं; जो निष्क्रिय स्वभाव के होते हैं वे नहीं सीखते। सक्रिय स्वभाव के व्यक्ति हरएक बात मे सजग रहते हैं। जो कार्य सामने आया उसका संश्लेषण-विश्लेषण करके उसमे कुशल बनते हैं। इस प्रकार अपने जीवन से जो कुछ वे सीखते हैं वह बहुत समृद्ध रहता है।

सीखने के लिए मनोविज्ञान मे कई सिद्धान्त हैं। इस सम्बन्ध मे अमेरिका के मनोवैज्ञानिक थॉर्नडाइक का नाम विशेष महत्त्व का है।

सीखने के नियम

थॉर्नडाइक के अनुसार सीखने के मुख्य तीन नियम हैं—अभ्यास-नियम (लॉ ऑफ एक्सरसाइज), सुखानुभव-नियम (लॉ ऑफ एफेक्ट) और तत्परता-नियम (लॉ ऑफ रेडीनेस)। ये नियम बहुत महत्त्व के हैं। इनको ध्यान मे रखने से मनुष्य कम से कम प्रयास और मानसिक थकान से जल्दी से जल्दी किसी कार्य को सीख सकता है।

मनुष्य जब किसी कार्य को बार-बार करता है, पुस्तक को कई बार पढ़ता है, वह उस कार्य को सीख जाता है और पुस्तक का ज्ञान

प्राप्त कर लेता है। सम्भव है पहली बार प्रयत्न करने पर वह कार्य न कर पावे, भूलें करे; पर बार-बार करने पर वह सीख जाता है, भूलें नहीं करता और कुशलता से करने लगता है। युक्ति भी ढूँढ़ निकालता है। जटिल कार्य भी आसान हो जाता है और बिना ध्यान दिये किया जाने लगता है। कार्य यन्त्रवत् होने लगता है; समय भी कम लगता है। यह अभ्यास-नियम से सीखना हुआ। शिक्षा मे अभ्यास-नियम को ध्यान मे रखना चाहिये। यदि बालक से किसी विषय को पढ़ने के लिये अभ्यास कराया जाय तो उस विषय मे रुचि न रहते हुए भी वह उसे सीख जायगा। अभ्यास से वह गणित मे प्रवीण हो सकता है। बारीक सूत कात सकता है। और कविता कंठाग्र कर सकता है। कहा गया है, 'करत-करत अभ्यास के जड़मति होय सुजान'। थॉर्नडाइक की 'प्रयास और भूल' की विधि बहुत कुछ अभ्यास-नियम पर निर्भर है।

अभ्यास-नियम

सीखने का दूसरा नियम 'सुखानुभव-नियम' है। किसी कार्य को सीखने की प्रेरणा तभी मिलती है जब उससे सुख और सन्तोष का अनुभव होता है। जिस कार्य को करने से वेदना या पीड़ा का अनुभव होता है वह कार्य नहीं किया जाता। थॉर्नडाइक ने चूहों पर प्रयोग किया और यह निदान किया कि चूहे तभी रोटी पाने का प्रयत्न करते हैं जब उन्हें भूख लगी रहती है। जब भूख नहीं लगी रहती, वे रोटी तक पहुँचने का प्रयत्न नहीं करते। बालक भी शिक्षक के पाठ की ओर ध्यान तभी देता है जब उसे यह आशा रहती है कि प्रतियोगिता मे प्रथम आने पर उसे पुरस्कार मिलेगा। जब उसे कुछ लाभ की आशा नहीं रहती, वह अध्ययन की ओर ध्यान नहीं देता। इसी कारण शिक्षा मे पुरस्कार की प्रथा का विशेष महत्व है।

सुखानुभव-नियम

सीखने का तीसरा नियम 'तत्परता-नियम' है। जब कभी कोई व्यक्ति

किसी कार्य को सीखने के लिये तत्पर रहता है, वह उस कार्य को जल्दी सीखता है, सीखने मे उसका मन लगता है और

तत्परता-नियम

आसानी होती है। जिस कार्य को सीखने के लिये वह तत्पर नहीं रहता, उसे सीखने मे कठिनाई पड़ती है। यदि कोई व्यक्ति औषधि पर व्याख्यान सुनने के लिये तत्पर नहीं है, परन्तु व्याख्यान सुनने के लिये वह बाध्य होता है, वह व्याख्यान से लाभ नहीं उठा सकता। इसलिये यह आवश्यक है कि विषय समझने के लिये बालक तत्पर किया जाय। तभी बालक शिक्षा से लाभ उठा सकता है।

सीखने के उपरोक्त नियमों को ध्यान मे रखने के पश्चात् प्रश्न यह उठता है कि सीखने की विधि क्या है। सीखने की मुख्य तीन विधियाँ हैं—प्रयास और भूल (ट्रायल एण्ड एरर), अन्तर्दृष्टि

सीखने के प्रकार

(इनसाइट) और अनुकरण (इमीटेशन)। 'प्रयास और भूल' विधि के प्रवर्त्तक थॉर्नडाइक हैं। इस विधि मे किसी कार्य को सीखने के लिये प्रयास करना पड़ता है। प्रयास मे भूलें होती हैं। पर बार-बार कार्य करने के बाद भूल नहीं होती और वह कार्य सीख लिया जाता है। थॉर्नडाइक ने चूहों पर प्रयोग करने के लिये एक विशेष प्रकार की चूहेदानी बनवायी। बाहर निकलने के लिये इसमे कई रास्ते बने थे। रास्तों का आयोजन इस प्रकार था कि एक रास्ते से बाहर निकलने का उपक्रम करने पर बिजली का

प्रयास और भूल

कम्पन होता था; दूसरे से जाने पर बन्द स्थान मिलता; केवल तीसरे रास्ते से चूहा सीधे बाहर निकल जा सकता था। प्रारम्भ मे चूहों ने भूलें की। बाहर जाने के लिये प्रत्येक रास्ते से निकलने का प्रयास किया। एक से निराश होकर दूसरा अजमाया। सीधा रास्ता पकड़कर एक बारगी वे बाहर न निकल सके। जब चूहों को फिर उसी स्थान पर रखा गया, चूहों ने कम भूलें की और थोड़े

ही अंग संचालन से उन्हें सही रास्ता मिल गया। इसमे दो बातें ध्यान मे रखने की हैं : एक तो, चूहों ने बाहर निकलने के लिये बराबर प्रयत्न किया और तब ठीक रास्ता पाया; दूसरे, भोजन को देख कर भी भोजन पाने का वे तभी प्रयत्न करते जब वे भूखे रहते। भोजन की इच्छा न रहने पर भोज्य पदार्थ तक पहुँचने का वे प्रयास ही न करते; भोज्य पदार्थ चूहेदानी के बाहर रखा देखकर भी अपने स्थान पर बैठे रहते। यह इस बात का प्रमाण है कि सीखना 'अभ्यास नियम' और 'सुखानुभव नियम' से संचालित होता है।

व्यवहारवादियों के अनुसार सीखने की एक मात्र विधि 'प्रयास और भूल' है। उन्होंने 'प्रयास और भूल' की विधि पर बहुत बल दिया है और कहा है कि इस विधि के द्वारा केवल यान्त्रिक कार्य नहीं सीखा जाता जैसे मशीन चलाना और बोझ ढोना, इससे बौद्धिक कार्य भी सीखा जाता है। गणित की गुत्थी और दर्शन की समस्या सुलझाने मे भी 'प्रयास और भूल' की विधि काम देती है। किन्तु व्यवहारवादी की यह धारणा ठीक नहीं है। यह एकांगी सत्य है। जब मनुष्य कोई कार्य सीखने की योजना बनाता है, उसमे उसका उद्देश्य रहता है। नृत्य सीखना केवल अभ्यास की बात नहीं है। जो मनुष्य नृत्य सीखता है उसका उद्देश्य कलाकार बनने का होता है। यदि सीखने का तात्पर्य केवल प्रयास और भूल से है तो इसका अर्थ है कि सीखना निम्न स्तर की क्रिया है। बौद्धिक कार्य और सामान्य कार्य मे कोई भेद नहीं है। 'प्रयास और भूल' के द्वारा मनुष्य कुछ कार्य करना अवश्य सीखता है परन्तु इस विधि से सभी कार्य नहीं सीखे जा सकते। कुछ प्रकार के ऐसे कार्य हैं जो 'प्रयास और भूल' के द्वारा सीखे ही नहीं जा सकते, जैसे वैज्ञानिक तथा इंजीनिअर का आविष्कार। इसके अतिरिक्त, इस विधि का प्रयोग अधिकतर पशु या मन्द-बुद्धि के व्यक्ति करते हैं। जिनका बुद्धि-भागफल कम है वे सब कार्य केवल आवृत्ति करके

सीखते हैं; जिनकी बुद्धि तीव्र है वे सोचते हैं, समझते हैं और तब करते हैं।

सीखने की दूसरी विधि अन्तर्दृष्टि है। कोहलर ने इस विधि की महत्ता पर विशेष बल दिया है। कोहलर का कथन है कि पशु 'प्रयास और भूल' से सीखता है और मनुष्य अधिकतर 'अन्तर्दृष्टि' से सीखता है। बात यह है कि पशु का सीखना अंग-स्तर पर होता है; मनुष्य का सीखना विचार-स्तर पर होता है। उसमे तर्क-वितर्क तथा विचार करने की शक्ति होती है। यद्यपि यह समझा जाता है कि अन्तर्दृष्टि की विधि का प्रयोग केवल मनुष्य ही कर सकता है तथापि प्रयोग करने के बाद यह पता लगा है कि कुछ बहुत ऊँचे कोटि के पशु भी अन्तर्दृष्टि से सीख सकते हैं। चिंपांजी मे सूझ होती है। एक चिंपांजी को पिंजड़े मे बन्द किया गया और पिंजड़े से थोड़ी दूर दो-तीन केले रखे गये। पिंजड़े मे बाँस के दो टुकड़े रखे गये जो एक दूसरे मे बैठाये जा सकते थे। चिंपांजी ने बाँस के टुकड़ों को इधर-उधर करके एक दूसरे मे बैठा लिया और एक लम्बी लकड़ी बनाकर केले को पिंजड़े की ओर खींच लिया।

अन्तर्दृष्टि

कुछ ऐसे प्रकार के कार्य हैं जो केवल अन्तर्दृष्टि की विधि से सीखे जा सकते हैं। वैज्ञानिकों का आविष्कार केवल अन्तर्दृष्टि पर निर्भर है। जो व्यक्ति तीव्र बुद्धि के हैं वे कभी भी किसी कार्य को बार-बार नहीं करते; अन्तर्दृष्टि से सूझ निकाल लेते हैं। शिक्षक के लिये यह आवश्यक है कि वह बालक को ऐसा अवसर देता रहे कि उसकी सूझ की शक्ति पनपे और वह सब कार्य अपनी सूझ का उपयोग करके करे। किसी कार्य को बार-बार करके सीखना उसके लिये ठीक नहीं। जिस बालक को प्रयास और भूल के द्वारा सीखने के लिये प्रोत्साहन दिया जाता है उस बालक का मानसिक विकास स्थिर हो जाता है। उसे सीखने मे देर लगती है और ऊँचे स्तर का बौद्धिक कार्य तो वह किसी प्रकार सीख ही नहीं पाता।

सीखने की तीसरी विधि 'अनुकरण' है। शैशवावस्था में बालक माता-पिता का अनुकरण करके बोलना, चलना, दैनिक क्रिया करना, पोशाक पहनना इत्यादि सीखता है। इसके बाद वह

अनुकरण

मित्र तथा अन्य संबंधियों के सम्पर्क मे आता है और उनका अनुकरण करता है। बालक की जिस बात मे रुचि रहती है उसे अनुकरण के द्वारा वह तुरत ही सीख लेता है। उसकी रुचि ड्रॉइंग मे है। शिक्षक को ड्रॉइंग करते देखा और स्वयं ड्रॉइंग बनाने लगा। एक बार मिठाई के लिये एक बालक मचल रहा था। माँ मिठाई लाने के लिये सिकहरे के पास गयी। सिकहरा ऊँचा था। बगल से चौकी उठाया और उस पर चढ़ कर मिठाई उतार लिया। बालक को मिठाई मिल गयी। वह यह सब देख रहा था। उसने यह सीख लिया कि ऊँचे पर रखी चीज किस प्रकार मिल सकती है। उसे टेबुल पर से स्याही लेना था, टेबुल ऊँचा था। उसने चौकी लगाकर स्याही ले लिया। स्त्रियों मे अनुकरण करने की वृत्ति बहुत रहती है। बहुत सा कार्य वे अनुकरण द्वारा सीखती हैं। पड़ोस की किसी स्त्री को एक विशेष प्रकार से बाल बनाते देखा और उसी तरह बाल बनाने लगीं। ऊन की डिजाइन एक ने डाली तो उसी डिजाइन को सभी ने बना डाला। मनुष्य की तरह पशु भी 'अनुकरण' से बहुत कुछ सीखता है। बंदर तो अनुकरण के लिये प्रसिद्ध है। इस पर कुछ प्रयोग भी हुए हैं।

इस प्रकार कुछ कार्य 'प्रयास और भूल' से, कुछ 'अंतर्दृष्टि' से और कुछ 'अनुकरण' से सीखे जाते हैं। कार्य की गति के बारे में वैज्ञानिक दृष्टि से यह स्थापित किया गया है कि जब कभी कोई

सीखने का पठार

व्यक्ति किसी कार्य को करना सीखता है तो सीखने की उन्नति मे एक साधारण नियम-क्रम चलता है। प्रारम्भ मे सीखने की गति कम रहती है; फिर गति बढ़ती है; कुछ समय

के बाद गति स्थिर पड़ जाती है। कुछ देर तक स्थिर गति से कार्य होता है और फिर गति कम होने लगती है। स्थिर होकर कुछ समय तक एक गति से सीखने की अवस्था को 'सीखने का पठार' (प्लेटो ऑफ लर्निंग) कहते हैं। सीखने की प्रगति पर रुचि और सफलता का बहुत प्रभाव पड़ता है। रुचि रहने पर और सफलता मिलने पर गति बढ़ती है; रुचि का अभाव होने पर और सफलता न मिलने पर सीखने की प्रगति कम हो जाती है। इस कारण सीखने की प्रगति बनाये रखने के लिए अध्ययन या कार्य मे बालक की रुचि बनाये रखने का शिक्षक को प्रयत्न करना चाहिये। यह तो बहुत कुछ शिक्षक की व्यक्तिगत कुशलता पर निर्भर है। जिस विषय मे रुचि न हो उसे अध्ययन करने के लिये बालक को बाध्य नहीं करना चाहिये। बालक को उन्नति-विवरण बराबर मिलते रहना चाहिये। उन्नति-विवरण से प्रोत्साहन मिलता है। सफलता मिलते देखकर वह और भी उन्नति करने का प्रयत्न करता है। साथ ही, जब वह थक जाय, उसे सीखने के लिए बाध्य नहीं करना चाहिये। विश्राम करने देना चाहिये।

सीखने का पठार इसलिए आता है कि सीखने की एक सीमा रहती है जिसके बाद उन्नति नहीं होती। उस अवस्था मे उन्नति करने का एक ही उपाय रह जाता है कि कार्य को दूसरी विधि से सीखना प्रारम्भ किया जाय। बालक को टाइप करना सीखना है। यदि वह अक्षरों को देखकर टाइप करना सीखता है तो उसकी एक सीमा है जिसके बाद वह उन्नति नहीं कर सकता। हाँ, यदि वह स्पर्श-विधि से टाइप करना सीखता है तो उसकी टाइप करने की गति बढ़ सकती है। इसी तरह रुचि की भी एक सीमा रहती है। उस सीमा के बाद कार्य मे आगे बढ़ने की रुचि नहीं रह जाती। उस अवस्था मे कार्य के केन्द्र को बढ़ाकर रुचि पैदा की जा सकती है। विद्यार्थी की यह इच्छा है कि वह कक्षा मे प्रथम आया करे। इच्छा तीव्र होने के कारण वह प्रयत्न करता

है। अध्ययन मे उन्नति करता है और अब वह कक्षा मे सदैव प्रथम आता है। इसके बाद वह उन्नति नहीं करता और गति स्थिर हो जाती है। बात यह है कि उसकी रुचि अब इसके आगे बढ़ने की नहीं है। यदि उसे अब यह प्रोत्साहन दिया जाय कि उसे प्रान्तीय और केन्द्रीय परीक्षा मे उत्तीर्ण होना है तब सम्भव है वह कुछ और उन्नति कर सके। शारीरिक सीमा होने से भी एक विशेष बिन्दु के बाद उन्नति नहीं होती और उस सीमा तक पहुँचने के बाद उन्नति करने का प्रयत्न विफल होता है जब तक शिक्षक किसी नयी युक्ति का प्रयोग करके शारीरिक सीमा से बचने का उपाय न ढूँढ़ निकाले।

सीखने का पठार एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया है। यह देखकर कि बालक एक ही गति से विषय का अध्ययन कर रहा है और कुछ प्रगति नहीं कर रहा है, शिक्षक को हतोत्साह नहीं होना चाहिये; न बालक मे ही निराशा का भाव आना चाहिये। बालक की सीमाओं पर विचार करते हुये शिक्षक कुछ ऐसी युक्ति निकाल सकता है जिससे बालक के सीखने मे पुनः प्रगति आ जावे। जिन कारणों से सीखने का पठार आता है उनसे शिक्षक को विशेष रूप से परिचित होना चाहिये।

जहाँ तक शिक्षा का प्रश्न है, मनोविज्ञान की दृष्टि से यह भी प्रश्न उठता है कि बालक को शिक्षा देना कब प्रारंभ करना उत्कृष्ट है।

शिक्षा कब प्रारम्भ होवे

मौरफट और वारबर्न ने इस प्रश्न पर मनन किया है और प्रयोग करने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि जब तक बालक का मानसिक विकास पूर्ण रूपेण न हो जाय तब तक उसकी शिक्षा प्रारम्भ नहीं करना चाहिये। मानसिक विकास होने के पहले शिक्षा प्रारम्भ करने से बालक कोई लाभ नहीं उठा सकता क्योंकि उसकी मांसपेशियाँ संबंधित नहीं रहती, प्रत्यक्षीकरण शक्ति की तीव्रता कम रहती है, और धारण-शक्ति निर्बल रहती है। शिक्षा के प्रति उदासीनता का भाव उत्पन्न हो

जाता है और अध्ययन मे रुचि नहीं रहती। पाठ्य पुस्तक के प्रति ही नहीं, सामान्य रूप से शिक्षा के प्रति उसमे अवज्ञा का भाव हो जाता है। संवेगात्मक दृष्टि से बालक का मन अस्थिर हो जाता है और मानसिक दुर्बलता आती है। उसके मन मे पुस्तक के प्रति भय का भाव हो उठता है और हर घड़ी यह विचार होता है कि छुट्टी मिले और चलकर साथियों से खेलें। संवेग की दृष्टि से अस्थिर होने से मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है। विकास के पहले शिक्षा देने से बालक गलत आदत डाल लेता है। एक बार जो आदत पड़ जाती है, नहीं बदलती। सुधारने का प्रयास विफल जाता है। विशेष कर जो आदत बाल्यावस्था मे पड़ती है उसका बदलना कठिन होता है। धीरे-धीरे वह स्वभाव बन जाता है।

शिक्षा प्रारम्भ करते समय बालक की मानसिक आयु कम से कम सात वर्ष की होनी चाहिये। सात वर्ष की मानसिक आयु मे शिक्षा प्रारम्भ करने से उन्नति की सम्भावना अधिक रहती है। इसके अनुसार शिक्षा देने से सत्तर प्रतिशत् या इससे भी अधिक बालक उन्नति कर पाते हैं। छः वर्ष की मानसिक आयु मे ही शिक्षा देना प्रारम्भ करने से दस प्रतिशत् से भी कम की उन्नति की संभावना रहती है। शिक्षा मे मानसिक आयु का महत्व है। मानसिक आयु और वास्तविक आयु प्रायः समान नहीं होतीं। सम्भव है वास्तविक आयु अधिक हो और मानसिक कम; या मानसिक अधिक और वास्तविक कम। यह व्यक्तिगत् विशेषता पर निर्भर है। सांख्यिक विवरण से पता लगा है कि वास्तविक आयु से मानसिक आयु प्रायः कम रहती है।

इस तरह भावात्मक, बोधात्मक और क्रियात्मक सभी दृष्टि से शिक्षा जल्दी देना हानिकारक है। बालक का मानसिक विकास (मैच्युरेशन) होने पर ही शिक्षा प्रारम्भ की जाय इस पर शिक्षक को पूर्ण ध्यान रखना चाहिये।

अब यह जानने की आवश्यकता है कि जो कुछ किसी व्यक्ति ने अभी सीखा है उसका उपयोग वह आगे चलकर कैसे कर सकता है— अथवा, एक स्थिति और अवस्था मे प्राप्त ज्ञान का उपयोग दूसरी स्थिति और अवस्था मे कैसे और कहाँ तक वह कर सकता है। ज्ञानार्जन का परत्र उपयोग हो सके इसके लिये दो बातें हैं : एक, भविष्य की आवश्यकता का ध्यान रखना; दो, योजना बनाना। जब कभी किसी विषय की – गणित हो या दस्तकारी, भूगोल हो या इतिहास—शिक्षा दी जावे, इस बात का ध्यान रहे कि उस विषय का ज्ञान उस व्यक्ति के जीवन को कहाँ तक समृद्ध बना सकता है। यदि गाँव के बालक को कृषि-शिक्षा दी जाय तो आगे चलकर वह अपना कृषि-व्यवसाय सफलता से करेगा और इस प्रकार उसकी कृषि-शिक्षा का परत्र उपयोग अधिक हो सकेगा। हैमलिन ने प्रयोग द्वारा यह दिखलाया है कि जिसने बाल्यावस्था मे कृषि-शिक्षा पायी और युवावस्था मे पहुँचकर कृषि-व्यवसाय किया उसकी कृषि-शिक्षा का परत्र उपयोग अधिक हुआ। दूसरी बात योजना की है। यह सोचना गलत है कि शिक्षा देते जाओ और अवसर आने पर अपने आप उपयोग होवेगा।

ज्ञानार्जन का परत्र उपयोग

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उपयोग-मूल्य उस विषय मे अधिक होता है जिसमे किसी व्यक्ति-विशेष की इच्छा-रुचि हो। उपयोग बहुत कुछ रुचि पर निर्भर है, विषय पर नहीं। पृथक्-पृथक् व्यक्तियों की रुचि का विषय पृथक्-पृथक् होता है। किसी की रुचि विज्ञान मे है, किसी की गणित मे और किसी की संगीत मे। यदि विज्ञान मे रुचि है और विज्ञान की शिक्षा भी दी गयी तब विज्ञान की शिक्षा का परत्र उपयोग (ट्रान्सफर वैल्यू) अधिक होगा; गणित मे रुचि रहने पर गणित का; संगीत मे रुचि रहने पर संगीत का। जब विषय का आत्मीयकरण होता है तभी समय आने पर उसका उपयोग होता है। शिक्षा-वेत्ताओं को

बालक के लिये इस प्रकार की पृष्ठभूमि कायम करना है जिससे वह जिस विषय-वस्तु का अध्ययन करे उससे आत्मीयता के भाव का अनुभव करे और उसमे स्थिर समायोजित संवेग की उत्पत्ति होवे।

यह भी है कि सभी उपार्जित शिक्षा का उपयोग नहीं होता। जिस विषय का ज्ञान व्यावहारिक जीवन मे आवश्यक है और जिसका उपयोग हर घड़ी होता रहता है उसमे परत्र उपयोग-मूल्य अधिक रहता है। स्कार्फ ने प्रयोग के लिये बालकों को दो वर्गों मे अलग किया; एक वर्ग मे वे बालक थे जिन्हें स्वास्थ्यरक्षा की शिक्षा मिली थी। दूसरे वर्ग को इसका कुछ ज्ञान नहीं था। प्रयोग करने के बाद स्कार्फ ने पाया कि जिन बालकों को स्वास्थ्यरक्षा की शिक्षा मिली थी वे स्वतः स्वास्थ्य-वर्धक भोजन करते; जिन्हें शिक्षा नहीं मिली थी वे मनमाना भोजन करते, भले ही वह स्वाथ्य के लिये हानिकारक क्यों न हो।

शिक्षा का उपयोग करना विद्यार्थी की बुद्धि पर भी निर्भर है। बुद्धि अधिक होने पर शिक्षा का उपयोग होता है; कम होने पर नहीं। वर्नर ने पृथक्-पृथक् बुद्धि के बालकों की परीक्षा ली। जिनकी बुद्धि अधिक थी उन्होंने अपनी शिक्षा का आगे चलकर अधिक उपयोग किया; जिनकी बुद्धि कम थी उन्होंने जो शिक्षा पायी भी उसका उपयोग नहीं किया। इसके अतिरिक्त शिक्षा-विधि पर भी उपयोग-मूल्य बहुत कुछ निर्भर करता है। जब शिक्षा-विधि उत्कृष्ट रहती है, तब शिक्षा के परत्र उपयोग की अधिक संभावना रहती है।

मानसिक कार्य और थकान

कार्य सामान्य रूप से दो प्रकार के होते हैं—शारीरिक और मानसिक। कुछ कार्य मिश्रित प्रकार के भी होते हैं। शारीरिक कार्य करने से शरीर थकता है और मानसिक कार्य करने से मन थकता है। किन्तु शारीरिक कार्य को मानसिक से और मानसिक कार्य को शारीरिक से अलग नहीं कर सकते। शारीरिक कार्य को करने से मन थकता है और मानसिक से शरीर। शारीरिक कार्य का प्रभाव मन पर पड़ता है और मानसिक कार्य का प्रभाव शरीर पर पड़ता है। जब शरीर थका होता है तब मन भी निष्प्रभ हो जाता है और जब मन थका होता है तब शरीर भी अक्रियमाण हो जाता है। मानसिक थकान में शारीरिक थकान के लक्षण मिलते हैं। मोज़को ने स्पष्ट लिखा है—'मानसिक कार्य अधिक करने से बालकों को दृष्टि सम्बन्धी कष्ट हो जाता है, आँख की रोशनी कम पड़ जाती है, मस्तिष्क स्तब्धता आती है जिससे सिर में दर्द होता है नाक से खून निकलने लगता है, भूख नहीं लगती, भोजन नहीं पचता और रीढ़ की हड्डी झुक जाती है, फेफड़े की छूत होती है और स्नायु-तन्त्र के केन्द्रीय भाग में गड़बड़ी हो जाती है।* शरीर और मन में अटूट सम्बन्ध है। इसी कारण आधुनिक शिक्षा में मानसिक विकास के प्रसंग में शरीर के विकास

* "Mossco describes the consequences of mental overwork in children as follows: disturbances of vision especially shortsightedness, cerebral congestion resulting in headache, bleeding from the nose and vertigo, tendency to round shoulders and indigestion, predisposition to pulmonary infections, spinal curvature, central disorders and loss of appetite and nervousness."

पर भी बराबर बल दिया जाता है। कहा भी गया है कि स्वस्थ मन का वास स्वस्थ शरीर मे रहता है। यदि शरीर का विकास स्वस्थ रूप से हुआ तो सभी मानसिक क्रियाओं—संवेदन, प्रत्यक्षीकरण, कल्पना, स्मृति, विचार इत्यादि—का विकास भलोभाँति होवेगा। मन और शरीर मे सम्बन्ध के कई सिद्धान्त हैं जिनमे क्रिया-प्रतिक्रिया-सिद्धान्त सबसे प्रसिद्ध और विचारगम्य है। इस सिद्धान्त के अनुसार शरीर की क्रिया का प्रभाव मन पर और मन की क्रिया का प्रभाव शरीर पर पड़ता है। किसी की आँखों से आँसू तभी बहता है जब उसके मन मे पीड़ा होती है। दिन भर मनन करने के पश्चात् रात्रि मे गहरी नींद आती है। क्रोध मे मनुष्य गालियाँ देने लगता है, चेहरा लाल हो जाता है और नाड़ी तेजी से चलने लगती है। इसी प्रकार मस्तिष्क पर आघात होने से मनुष्य बेहोश हो जाता है।

शारीरिक कार्य अत्यधिक करने से मांसपेशियाँ थक जाती हैं। इसका कारण स्नायुतंत्र और मांसपेशी मे दुग्धालम्य (लैकटिक ऐसिड) का अधिक उत्पन्न हो जाना है। दुग्धालम्य एक प्रकार का विषपूर्ण विजातीय द्रव्य (टौक्सिक सबस्टेन्स) है। जब दुग्धालम्य किसी भी कारण से शरीर मे अधिक उत्पन्न हो जाता है, और यह विशेष रूप से अधिक देर तक कार्य करने से होता है, तब मनुष्य थककर पड़ जाता है। यदि यह परिमाण मे बहुत अधिक हुआ तो शरीर मे लकवा भी मार सकता है। जब दुग्धालम्य शरीर के किसी अंगविशेष मे इकट्ठा हो जाता है तब उस अंगविशेष मे थकान मालूम पड़ती है। जब यह पूरे शरीर मे फैल जाता है तब पूरा शरीर शिथिल पड़ जाता है। शरीर मे थकान आने पर कारबन डाइऔक्साइड और अमोनिया भी उत्पन्न हो जाते हैं। दुग्धालम्य की तरह इनका भी प्रभाव जहरीला होता है। दुग्धालम्य, कारबन डाइऔक्साइड और अमोनिया के उत्पन्न होने से शरीर मे पूरी तरह से थकान आ जाती है।

मानसिक कार्य करने से मस्तिष्क पर अधिक प्रभाव पड़ता है। मस्तिष्क थकता है। शरीर के तंतु और मांसपेशियाँ नहीं थकतीं। जो दर्शन की गुत्थी सुलझाने मे व्यस्त है, गणित का हिसाब बैठा रहा है, या किसी शब्द की व्युत्पत्ति निकालने मे सबेरे से जुटा है, शरीर से काम न करते हुए भी, वह मस्तिष्क मे थकान का अनुभव करेगा और चारपायी पर पड़ जायेगा। देर तक पुस्तक का अध्ययन करते रहने से मनुष्य थकता है और अपनी थकान मिटाने के लिए मित्रों के पास-पड़ोस मे चला जाता है। बालक कहता है 'माँ! मै तो थक गया। अब खेलने जाऊँगा'।

कुछ भी है ध्यान मे इतना रखना आवश्यक है कि शारीरिक कार्य का प्रभाव मन पर और मानसिक कार्य का प्रभाव शरीर पर अवश्य पड़ता है। इसी कारण फ्रीमैन की थकान की परिभाषा बहुत उपयुक्त मालूम पड़ती है—"थकान वह अवस्था है जिसमे शरीर के सब तन्तु निष्प्रभ पड़ जाते हैं और वे प्रतिक्रिया नहीं करते और मन भी पूर्णतः शिथिल पड़ जाता है। मन इतना अधिक निश्चेष्ट हो जाता है कि उसमे रोष और चिड़चिड़ापन भी शेष नहीं रह जाता"। यह इस बात का प्रमाण है कि शारीरिक कार्य करने से मानसिक थकान आती है और मानसिक कार्य करने से शारीरिक थकान आती है।

वैज्ञानिक रूप से थकान की परिभाषा दो दृष्टि से दी जा सकती है: आभ्यन्तरिक दृष्टि से, यह मन की वह अवस्था है जिसमे मनुष्य अपने मस्तिष्क को अधिक कार्य करने मे असमर्थ पाता है; उसकी सोचने-समझने की शक्ति शिथिल पड़ जाती है, वह अध्ययन करता है पर उसके ध्यान मे कुछ नहीं बैठता। बाह्य दृष्टि से, थकान वह अवस्था है जिसमे मांसपेशियाँ शिथिल पड़ जाती हैं और ज्ञानतन्तु और क्रियातन्तु निष्प्रभ हो जाते हैं। इस कारण जब कोई बाहरी वस्तु ज्ञानेन्द्रिय के सम्पर्क मे आती है,

थकान

उसका बोध मस्तिष्क तक पहुँचने और प्रतिक्रिया होने मे अधिक समय लगता है। दूसरे शब्दों मे, थकान वह अवस्था है जिसमे मन और शरीर शिथिल हो जाते हैं, काम करने की गति कम हो जाती है और मनुष्य विश्राम चाहता है। ड्रिल ने शरीर की अवस्था पर बल दिया है और यह कहा है कि थकान वह अवस्था है जब शरीर मे सामञ्जस्य नहीं रह जाता। विलसन ने मन की अवस्था पर बल दिया है और यह कहा है कि थकान बहुत देर तक मानसिक श्रम करने से आती है। स्टार्च के अनुसार यह रुचि और इच्छा कम होने की अवस्था है। मनुष्य देर तक और जटिल प्रकार का कार्य करने से नहीं थकता, रुचि न होने से थकता है। जिस विषय मे बालक की रुचि नहीं रहती उस विषय का अध्ययन कुछ ही देर करने मे उसे थकान आ जाती है। यदि किसी बालक की रुचि गणित मे नहीं है तो वह दो-चार प्रश्न लगाते ही थक जायगा; और यदि रुचि है तो वह घण्टों प्रश्न लगाता रहे पर नहीं थकता। जब तक वह पूरा नहीं कर लेता, उसी मे लगा रहता है और उसे खाने-पीने की भी सुध नहीं रहती। इसी प्रकार जिसकी रुचि दार्शनिक तथ्य मे है, वह दार्शनिक तथ्यों पर—ईश्वर क्या है, संसार सत्य है या असत्य, सत्य का ज्ञान मनुष्य के सीमित ज्ञान के परे है—विचार करता रहता है। वह संलग्न रहता है और उसे किसी प्रकार की थकान नहीं आती। यदि किसी वैज्ञानिक से इन तथ्यों पर मनन करने के लिये कहा जाय तो वह शीघ्र थक जायगा।

इस कारण शिक्षा मे बालक की रुचि की ओर बहुत ध्यान रखना चाहिये। अध्ययन की ओर रुचि रहने पर बालक को मानसिक थकान आने की कम संभावना होती है। जैसा उल्लेख किया जा चुका है, रुचि मे व्यक्तिगत भेद होता है। हरेक व्यक्ति की रुचि अलग कार्य और विषय के लिये होती है। कुछ व्यक्तियों की रुचि व्यापार-सम्बन्धी कार्य मे होती है। वे व्यापार की योजना बनाते हैं—किस प्रकार वस्तुएँ

कम मूल्य मे तैयार की जा सकती हैं, किस प्रकार आर्डर बड़े पैमाने और मात्रा मे पाये जा सकते हैं, और किस प्रकार विज्ञापन करके बिक्री के लिये प्रचार किया जा सकता है। व्यापार सम्बन्धो पुस्तक पढ़ने मे और सम्बन्धित विषयों पर बातचीत करने मे उनका मन लगता है। दूसरे व्यक्तियों की रुचि इञ्जीनियरिंग मे होती है। मशीन बनाना, इमारत की देखरेख करना, नये कल-पुरजों का आविष्कार करना उन्हें अच्छा लगता है। यदि उनसे चाँदी के सट्टे के बारे मे बात की जाय या किसी बैंक की व्यवस्था करने के लिये कहा जाय तो वे अयोग्य सिद्ध होंगे। रुचि रहने से प्रोत्साहन मिलता है। और प्रोत्साहन मिलने से अधिक कार्यक्षमता के साथ कार्य होता है। उन्नति होती है। मानसिक थकान कम होती है और जो कुछ होती भी है वह शारीरिक होती है। अधिक कार्य करने के कारण कोई मानसिक दुर्बलता से त्रस्त नहीं होता, आभ्यन्तरिक जगत मे संवेगात्मक द्वन्द्व होने पर मानसिक शक्ति का ह्रास होता है और थकान आती है।

मानसिक थकान के लक्षण

मानसिक थकान का मुख्य लक्षण 'ऊबना' है। किसी कार्य मे रुचि न होने पर मनुष्य ऊब जाता है। मानसिक शक्ति का प्रवाह उस दिशा मे नहीं होता। मानसिक थकान आने पर बालक प्रयत्न करने पर भी पुस्तक पर ध्यान स्थिर नहीं कर पाता और विषय पर विचार करने मे अपने को असमर्थ पाता है। उसका ध्यान इधर-उधर जाता है। स्मरणशक्ति कमजोर हो जाती है। मानसिक थकान के लक्षण मांसपेशी मे थकान और आँखों मे दुःखन भी हैं। थकान आने पर मांसपेशी मे परिवर्त्तन हो जाता है। हेल्महोल्ट्ज ने मांसपेशी का संकुचन नापने के लिये म्योग्राफ नामक यन्त्र निकाला है। वुन्डट ने इस यन्त्र का पहले पहल प्रयोग सन् १८५८ मे किया। डाइनोमैनेटरेस और इरगोग्राफ से भी मांसपेशी की थकान का अनुमान लगाया जाता है।

शिक्षा मे बालक की रुचि जब नहीं रहती, वह ऊब जाता है। ऊबने पर वह शिक्षा से लाभ नहीं उठा सकता। प्रायः शिक्षा-विधि मे दोष होने के कारण ही बालक ऊब जाता है। शिक्षक कुशल मनोवैज्ञानिक न होने के कारण बालक की मानसिक आवश्यकताओं का ध्यान नहीं रखता। यदि शिक्षा के विषय को उस विषय से संबंधित करके जिसमे बालक की रुचि है वह शिक्षा देता है तो बालक नहीं ऊबता। रुचि उत्पन्न हो जाती है और अध्ययन मे मानसिक थकान नहीं आती। ज्यों-ज्यों वह विषय समझता जाता है, उसकी उत्सुकता बढ़ती जाती है। साथ ही, एक ही विषय को बहुत देर तक अध्ययन करने के लिये बालक को बाध्य नहीं करना चाहिये। नवीन विषय मिलने से वह अध्ययन से नहीं ऊबेगा और इस प्रकार उसे मानसिक थकान नहीं आयेगी।

लगातार कार्य का प्रभाव

कार्य शारीरिक हो या मानसिक, अधिक देर तक करते रहने से थकान आती है। इस कारण लगातार कार्य नहीं करना चाहिये। कुछ देर तक कार्य करने के बाद विश्राम आवश्यक है। प्रश्न यह है, कितनी देर तक लगातार कार्य करना चाहिये? यह कार्य के प्रकार और परिमाण पर निर्भर है। किसी व्यक्ति के स्वास्थ्य और व्यक्तिगत बलपर भी यह निर्भर है। जिस व्यक्ति का स्वास्थ्य अच्छा है वह अधिक घंटे तक बिना थके कार्य कर सकता है; जिसका स्वास्थ्य ठीक नहीं है, वह दो तीन घंटे मे ही थक जाता है। संभव है इतनी देर भी वह काम न कर सके। कुछ व्यक्ति स्वभाव से आलसी होते हैं। इस कारण अधिक देर तक वे न शारीरिक कार्य कर सकते हैं न मानसिक। शारीरिक कार्य के संबंध मे यह प्रमाणित हुआ है कि कार्य करने के बाद १६.६ प्रतिशत् विश्राम आवश्यक है। वरनन और बेडफोर्ड ने बिजली घर मे काम करने वाले श्रमिकों पर इस प्रकार का प्रयोग किया। पहले विश्राम लेकर कार्य करने को कहा और फिर बिना विश्राम। प्रयोग करने के बाद यह निष्कर्ष

निकाला कि लगातार कार्य करने से शारीरिक थकान जल्दी और अधिक आती है और विश्राम लेकर कार्य करने से थकान कम आती है। कार्य भी अधिक होता है। मानसिक कार्य मे प्रति घंटे पाँच मिनट विश्राम अवश्य लेना चाहिये। दस मिनट विश्राम हो तो अधिक अच्छा है। जब बालक या प्रौढ़ मानसिक कार्य करने के बाद विश्राम करे तब उसे अपना मन सब प्रकार के विचारों से समेट कर कुछ देर के लिये निश्चिंत हो जाना चाहिये। इसीलिये शिक्षालयों मे रीसेस होती है। हर घंटे पर शिक्षक के बदलते रहने से भी बालक मानसिक विश्राम ले लेता है। यदि किसी विषय पर दो घंटे लगातार व्याख्यान दिया जाय तो बालक थक जायगा और थक जाने पर ध्यान एकाग्र नहीं कर पावेगा। वह ऊब जायगा और अध्ययन मे उसकी रुचि कम हो जायेगी। इस प्रकार थकान से बचाने के लिये शिक्षालयों मे अवकाश देकर शिक्षा देने की व्यवस्था होनी चाहिये। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि मानसिक थकान का कारण रुचि का अभाव और बिना विश्राम देर तक कार्य करना है। अरुचि होने पर शक्ति का व्यर्थ ह्रास होता है। रुचि रहने पर मानसिक शक्ति का ह्रास नहीं होता, बल्कि शक्ति का संचार होता है।

मानसिक कार्य की प्रेरणा

मानसिक कार्य के लिये सबसे बड़ी प्रेरणा यह है कि बालक को निश्चय रहे कि वह उन्नति कर रहा है। इसी कारण शिक्षालयों मे 'गृह-कार्य' और 'कक्षा-कार्य' की योजना रखी गयी है जिससे वह स्वयं ही अनुमान लगा ले कि पिछले महीने या साल से उसने क्या उन्नति की है। जब बालक यह देखता है कि उसे इस वर्ष पिछले वर्ष से अधिक नंबर मिले हैं, उसे प्रेरणा मिलती है, वह और भी उन्नति करने का प्रयत्न करता है। सहपाठियों को अच्छा नंबर पाते देखकर प्रोत्साहन मिलता है, 'कोशिश करूँ तो मै भी कक्षा मे प्रथम आ सकता हूँ'। वह दूसरों के साथ प्रतियो-

गिता मे भाग लेता है और अपने साथ भी—पिछले माह के विवरण पत्र से इस माह का विवरण अच्छा होना चाहिये। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि सफलता मिलने पर उन्नति होती है, प्रोत्साहन मिलता है और आत्म-विश्वास पैदा होता है; असफलता मिलने पर बालक अध्ययन से विमुख हो जाता है। जन्मजात इच्छा रही भी तो वह धुँधली पड़ जाती है। एक बालक मे बचपन से ही अध्ययन करने की जिज्ञासा थी। वह अधिक-तर बैठा पुस्तकें पढ़ा करता और समझने का प्रयत्न करता। पर बुद्धि की कमी के कारण वह सफल न हो सका। असफलता मिलने का परि-णाम यह हुआ कि उसकी अध्ययन के लिये जो इच्छा थी वह कम हो गयी और वह बालक अध्ययन छोड़कर व्यापार मे चला गया। इस कारण अध्ययन मे प्रेरणा के लिये बालक की जन्मदत्त योग्यता और क्षमता को समझते हुये शिक्षा का स्तर निर्धारित करना चाहिये। अध्ययन का विषय बालक की पहुँच के भीतर हो। तभी वह लाभ उठा सकेगा और सफलता पावेगा। तब उसके मन मे ऐसा भाव नहीं उठ पावेगा कि उसमे मानसिक दोष है और वह कुछ नहीं कर सकता। अपने को निकम्मा समझने पर किसी को किसी कार्य से प्रेरणा नहीं मिल सकती। इसलिये बालक को ऐसी स्थिति से बचाये रखना चाहिये जो उसके मन मे हीनत्व-भाव उत्पन्न करे। पहले यह समझा जाता था कि मानसिक व्यायाम के लिये बालक को कठिन से कठिन विषय और पाठ पढ़ने को देना चाहिये। यह बात मनोवैज्ञानिक दृष्टि से हानिकारक है। इसका प्रभाव बालक पर अस्वास्थ्यप्रद होता है। इसी प्रकार बालक पर निय-न्त्रण रखने से उसे शिक्षा प्राप्त करने के लिये प्रोत्साहन नहीं मिलता। वह समझता है कि उसे बाध्य किया जा रहा है। उसे बरबस पुस्तकों को पढ़ना पड़ रहा है। उसकी रुचि का कोई ख्याल नहीं करता। तिरस्कृत बालक को भी किसी प्रकार के कार्य को उत्साह के साथ करने की प्रेरणा नहीं मिलती। वह हीनत्व-ग्रंथि डाल लेता है। अपने को

छोटा, निकम्मा तथा अक्रियमाण समझने लगता है। जो कुछ जन्मदत्त बुद्धि रहती है वह भी निष्क्रिय पड़ जाती है। सभा-सोसाइटी मे नहीं जाता। सोचता है कि लोग मखौल करेंगे। किसी कार्य मे अग्रशील नहीं होता। धीरे-धीरे वह जड़ हो जाता है। किसी भी विषय या समस्या पर स्वतन्त्र विचार करने के लिये वह अयोग्य हो जाता है। शिक्षक यदि उपेक्षा का भाव रखकर बालक पर शासन करता है तो वह उसमे शिक्षा के प्रति श्रद्धा का भाव उत्पन्न नहीं कर सकता। प्रेम-सम्मान के भाव से ही वह बालक के मन मे प्रेरणा उत्पन्न कर सकता है। बालक की रास उसके हाथ मे है। जब तक बालक को अध्ययन के लिये वातावरण से प्रेरणा नहीं दी जाती, बुद्धि होते भी उसका ध्यान उस ओर नहीं जाता। यदि किसी कार्य मे बालक की जन्मदत्त रुचि है तो प्रेरणा की विशेष आवश्यकता नहीं पड़ती। किंतु जब जन्मदत्त रुचि नहीं रहती तब उपयुक्त प्रेरणा से ही बालक मे रुचि उत्पन्न की जा सकती है।

समाजवाद की दृष्टि से सबसे बड़ी प्रेरणा श्रम के लिये सम्मान का भाव है। श्रम से व्यक्तित्व का विकास होता है और आभ्यन्तरिक क्षेत्र मे संतुलन आता है। कहावत है 'खाली दिमाग मे भूत का वास रहता है।

वैयक्तिक भेद

मानव मे वैयक्तिक भेद होता है। एक श्याम वर्ण होता है तो दूसरा गौर वर्ण; एक नाटा होता है तो दूसरा लम्बा; एक दुबला होता है तो दूसरा मोटा। मानसिक दृष्टि से भी किसी व्यक्ति मे अधिक बुद्धि रहती है और किसी मे कम; किसी मे कल्पना की प्रचुरता होती है और किसी मे सामाजिकता के भाव की; कोई व्यवहार मे सौम्य होता है और कोई उद्दण्ड; कोई स्वभाव मे सरल होता है और कोई कुटिल-स्वार्थी।

वैयक्तिक भेद का प्रश्न प्राचीन काल से दार्शनिकों के विचार का भी विषय था। दर्शन मे वैयक्तिक भेद एक प्रकार से स्वतः सत्य मान लिया गया। ग्रीस के विख्यात दार्शनिक प्लेटो ने अपनी पुस्तक 'रिपब्लिक' मे स्पष्ट लिखा है कि कोई भी दो व्यक्ति समान नहीं होते। इनके गुण मे पृथक्ता होती है। पर प्लेटो के बाद बहुत दिनों तक इस समस्या पर विशेष रूप से विचार नहीं किया गया।

वृत्ति संबंधी भेद

मनोविज्ञान-क्षेत्र मे पहले-पहल गौल्टन ने वैयक्तिक भेद की समस्या का प्रसंग उन्नीसवीं शताब्दी मे उठाया। उन्होंने डारविन के 'आकस्मिक विभिन्नता और स्वाभाविक चुनाव' (चान्स वेरियेशन और नैचुरल सेलेक्शन) के सिद्धान्त का अध्ययन किया और यह ढूँढ़ निकाला कि शरीर की बनावट की तरह मनुष्य के मानसिक क्रिया-व्यापार मे भी भिन्नता होती है। दो व्यक्ति कभी भी समान नहीं होते। प्रारम्भिक इच्छाएँ भले ही एकरूप हों—जिज्ञासा, आत्मप्रतिपादन, काम, संग्रह इत्यादि की वृत्तियाँ जिस रूप मे एक व्यक्ति मे हों उसी प्रकार दूसरे मे भी—पर विकास के बाद इच्छाएँ जो रूप लेती हैं उनमे भेद

होता है। कुछ व्यक्तियों की प्रकृत वृत्तियों मे सामञ्जस्य रहता है—अच्छा वातावरण होने से वे परिमार्जित हो गयी रहती हैं; कुछ की वृत्तियों मे सामञ्जस्य नहीं रहता, उनमे संघर्ष होता रहता है—एक वृत्ति दूसरे पर हुकूमत करना चाहती है और अंत तक वे असुसंस्कृत रूप मे रह जाती हैं। जिसकी आत्मप्रतिपादन की वृत्ति का परिमार्जन हो जाता है वह देश के गौरव मे अपना गौरव समझता है—देश-भक्ति मे अपना व्यक्तिगत अस्तित्व भी भूल जाता है; जिसकी आत्मप्रतिपादन की वृत्ति का परिमार्जन नहीं हुआ है वह केवल दूसरों पर प्रभुता दिखलाना चाहता है और किसी दल का सदस्य है तो मुखिया बनना चाहता है। जिसकी काम-वृत्ति का परिमार्जन हो जाता है वह धर्म और कला का पुजारी बनता है; नहीं तो वह प्रवृत्तिशील होता है। वृत्ति के सम्बन्ध मे जो भेद होता है वह जन्मजात नहीं रहता, वातावरण के कारण होता है। बुद्धि या योग्यता सम्बन्धी भेद जन्मजात होता है।

मनोविज्ञान मे वैयक्तिक भेद के सम्बन्ध मे बहुत-सी परीक्षाएँ निकली हैं। प्रारम्भ मे ये परीक्षाएँ केवल संवेदन, स्मृति और शरीर की गति के सम्बन्ध मे थीं। रूसो के सिद्धान्त के आधार पर फ्रॉयबल ने अपने शिक्षा-सिद्धान्त का समर्थन किया। फिर तो सबका ध्यान एकबारगी वैयक्तिक भेद की समस्या की ओर गया। इस तरह वैयक्तिक भेद की समस्या मनोविज्ञान मे अध्ययन के लिए प्रमुख समस्या बन गयी।

वैयक्तिक भेद सामान्य रूप से देश, जाति, वर्ग, आचरण, बुद्धि और अभिरुचि सम्बन्धी होता है। हर एक देश के व्यक्तियों की अपनी अलग विशेषताएँ रहती हैं। केवल रहन-सहन, पहनावा और खान-पान मे एक देश दूसरे देश से पृथक् नहीं है वरन् बौद्धिक स्तर और स्वभाव की दृष्टि से भी पृथक् है। जर्मनी और इंगलैण्ड निवासियों की

देश सम्बन्धी भेद

औसत बुद्धि अफ्रीका निवासियों से अधिक होती है। मनुष्य का स्वभाव उसके संवेग के अनुरूप होता है और संवेग की तीव्रता, स्थिरता या अस्थिरता बहुत कुछ देश की आबहवा और भौगोलिक स्थिति पर निर्भर होती है। गर्म देश के निवासी अधिक संवेगात्मक होते हैं—काम और क्रोध का भाव बहुत तीव्र रहता है और प्रायः आवेश मे रहते हैं। प्रवृत्ति-शील होते हैं। ठण्ढे देश के निवासी शान्त प्रकृति के होते हैं। सामाजिक परम्परा के कारण भी एक देश का निवासी दूसरे देश के निवासी से अलग होता है। पश्चिमी और पूर्वीय देशों मे बहुत भेद है।

जाति सम्बन्धी भेद

जाति सम्बन्धी विवरण से पता चला है कि एक जाति और दूसरी जाति मे मानसिक शक्ति—विचार, कल्पना इत्यादि—की दृष्टि से बहुत भेद नहीं होता। भेद का कारण जातिगत विशेषताएँ नहीं हैं, वातावरण है। जिस प्रकार एक ही जाति मे शिक्षित जनता की मानसिक अवस्था का स्तर अशिक्षित से ऊँचा होता है, उसी प्रकार जिस जाति के सांस्कृतिक विकास के लिये उपयुक्त वातावरण मिलता है उसमे व्यक्तियों का मानसिक स्तर ऊँचा रहता है। हब्शियों से अंग्रेजों की मानसिक अवस्था का स्तर ऊँचा है। अंग्रेजों को शिक्षा-संस्कृति की सुविधाएँ मिलीं, हब्शियों को नहीं।

स्त्री-पुरुष सम्बन्धी भेद

वर्ग की दृष्टि से स्त्री और पुरुष मे केवल शरीर की बनावट मे ही भेद नहीं है, मानसिक भेद भी है। मनोवैज्ञानिक प्रयोग से यह निष्कर्ष निकाला गया है कि स्त्रियों मे स्मृति, संवेदन और रंग पहचानने को शक्ति पुरुष से अधिक है। बीसों वर्ष पहले की घटना वे ऐसी तत्परता और कुशलता से वर्णन करती हैं जैसे कल ही घटी हो। किसी वस्तु को एक बार देखा तो उसे बारीकी से ध्यान मे बैठा लिया। एक ही रंग के हलके से हलके शेड के अन्तर को वे तुरत पहचान लेती हैं।

पुरुषों मे क्रियात्मक निपुणता अधिक मिलती है। कैसा भी कार्य हो उसे निपटाने की युक्ति वे ढूँढ़ निकालते हैं। कोई चीज टूट गई तो प्रयत्न से जोड़ लिया; बिजली खराब हो गई तो ठीक कर लिया। संवेग की दृष्टि से भी स्त्रियों और पुरुषों मे भेद होता है। स्त्रियाँ भावुक होती हैं—एक क्षण आँसू बहाती हैं और दूसरे क्षण आनन्द-विभोर हो जाती हैं। दूसरों से बहुत जल्दी प्रभावित होती हैं। पुरुष का संवेग दृढ़, प्रौढ़ और विकसित रहता है। स्त्रियों मे परस्पर भेद कम होता है—ऐसा नहीं होता कि एक बहुत कुशल हो और दूसरी निरी मूढ़। स्त्रियाँ प्रायः एकरूप होती हैं। पुरुषों मे परस्पर अधिक भेद होता है—एक प्रतिभावान मिलता है तो दूसरा जड़। फिर भी वैज्ञानिक दृष्टि से अभी तक यह स्थापित नहीं किया जा सका है कि वास्तव मे स्त्री और पुरुष मे कहाँ तक भेद है। बुद्धि की दृष्टि से जो कुछ मनोविज्ञान मे प्रयोग किये गये हैं उनसे स्त्री और पुरुष मे विशेष भेद नहीं मिला; यों तो एक स्त्री और दूसरी स्त्री मे ही भेद हो सकता है, एक पुरुष और दूसरे पुरुष मे भी।

आचरण की दृष्टि से भी वैयक्तिक भेद मिलता है। स्वभाव से ही कुछ व्यक्ति सौम्य, सहनशील, और दयालु होते हैं और दूसरे के भले मे अपना भला समझते हैं; कुछ कपटी, पाखंडी और स्वार्थी होते हैं।

बुद्धि की दृष्टि से मानव मे भेद मिलता है। इसका मनोवैज्ञानिक मूल्य भी बहुत है। शिक्षा की सफलता बहुत कुछ बालक की बुद्धि पर निर्भर है। बुद्धि जन्मजात विशेषता होती है। किसी

बुद्धि संबंधी भेद मे अधिक होती है और किसी मे कम। फ्रांस के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक बिने और अमेरिका के मनोवैज्ञानिक टर्मन ने बुद्धि नापने के लिए परीक्षाएँ निकाली हैं और इनके आधार पर मानव को तीन वर्ग मे बाँटा है—प्रखर, साधारण और मंद। इन सबका उल्लेख आगे बुद्धि के प्रसंग मे विस्तार से किया जायगा।

इसी प्रकार निरीक्षण और प्रयोग के आधार पर यह स्थापित किया

गया है कि हरएक व्यक्ति की 'अभिरुचि' (ऐप्टिच्यूड) हरेक कार्य के लिए समान नहीं होती। कोई किसी कार्य को अधिक योग्यता के साथ कर सकता है और कोई कम। 'अभिरुचि' किसी कार्य विशेष को करने को जन्मजात योग्यता है। 'अभिरुचि' का पता लगाने के लिए मनोविज्ञान मे कुछ परीक्षाएँ हैं। ये परीक्षाएँ कोह, कोनर, अलेग्जेन्डर, मिनसोटा तथा संगीत इत्यादि की हैं। इनसे किसी व्यक्ति की अभिरुचि का पता आसानी से लग जाता है और वैज्ञानिक विधि से यह भी स्थापित हो जाता है कि दो व्यक्तियों की अभिरुचि समान नहीं होती।

अभिरुचि सम्बन्धी भेद

कुछ व्यक्तियों की अभिरुचि यन्त्र संबंधी कार्य के लिए होती है। मिनसोटा की कल-पुरजा-संग्रह-परीक्षा से यह पता लग जाता है कि यन्त्र सम्बन्धी कार्य करने के लिए किसी मे कहाँ तक योग्यता है। इसमे छोटे-छोटे हिस्से दिये रहते हैं और इन हिस्सों को बैठाकर दिये हुए नकशे की तरह मकान, साइकिल और बहुत-सी चीजें बनाना पड़ता है। यदि प्रयोग-पात्र अपनी निजी कुशलता से बना लेता है तो यह समझा जाता है कि उसमे यन्त्र-सम्बन्धी कार्य की अभिरुचि है और वह इंजीनियरिंग की शिक्षा पाने योग्य है। दूसरे व्यक्ति की अभिरुचि बौद्धिक कार्य के लिए होती है। काव्य की विवेचना और दर्शन के गूढ़ तथ्यों पर विचार करने के लिए उसमे योग्यता होती है। इस वर्ग के व्यक्ति विद्यालय की ऊँची शिक्षा से लाभ उठा सकते हैं। इसी प्रकार किसी व्यक्ति मे हिसाब-किताब रखने की अभिरुचि अधिक होती है। किसी मे कला की अभिरुचि होती है। वह नृत्य, गान और चित्रकला की शिक्षा सफलता से पा सकता है। किसी व्यक्ति मे संगीत की अभिरुचि कहाँ तक है यह जानने के लिए संगीत-अभिरुचि-परीक्षा का अनुसन्धान हुआ है। फोनोग्राफिक डिस्क पर भिन्न-भिन्न लय और स्वराघात का संगीत बजाया जाता है। प्रयोगपात्र को यह बतलाना

पड़ता है कि कब और कहाँ लय और स्वराघात मे अन्तर पड़ा। जिसमे संगीत अभिरुचि होती है वह कम और अधिक स्वराघात होते ही पहचान लेता है। स्वर पहचानने की शक्ति जन्मदत्त होती है। जिस प्रकार चित्रकारी की बारीकी समझनेवाला व्यक्ति चित्रकार बन सकता है, उसी प्रकार लय की बारीकी समझनेवाला व्यक्ति गवैया बन सकता है। सभी व्यक्ति गवैया नहीं बन सकते।

हल की ज्ञानार्जन-क्षमता-परीक्षाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि बुद्धि और अभिरुचि की दृष्टि से मानव मे कहाँ तक भेद है। सबसे प्रखर और सबसे मंद बालक की बुद्धि का अनुपात जानने के लिये उन्होंने आठवीं श्रेणी के बालकों की तेरह ज्ञानार्जन-क्षमता-परीक्षाएँ ली और यह निष्कर्ष निकाला कि उनकी बुद्धि का अनुपात ३·५:१ है। नवीं श्रेणी के बालकों की परीक्षा लेने पर यह अनुपात ५:१ मिला। इसका अर्थ है कि आठवीं श्रेणी का प्रखर बालक मूर्ख बालक से साढ़े तीन गुना अधिक विषय सीखेगा और नवीं श्रेणी का पाँच गुना। वेच्सेलर को यह अनुमान अतिशयोक्ति समझ पड़ा। उनके अनुसार यह अनुमान २:१ हो सकता था। वेच्सेलर के आक्षेप करने पर हल ने इस समस्या पर पुनः विचार किया, परीक्षा लिया और सब परिस्थिति को ध्यान मे रखकर अंत मे यह निष्कर्ष निकाला कि अनुपात २·५:१ हो सकता है। बुद्धि और अभिरुचि संबंधी भेद के कारण शिक्षा मे सभी स्तर और प्रकार के विषय मे व्यवस्था होनी चाहिये।

मन की विभिन्न प्रक्रियाओं संबधी भेद भी होता है। संवेदन की दृष्टि से किसी व्यक्ति मे दृश्य-संवेदन तीव्र होता है, किसी मे श्रव्य और किसी मे स्पर्श। संवेदन संबंधी भेद जानने के लिये जो प्रयोग निकले हैं उनका विस्तार से उल्लेख किया जा चुका है। सब इन्द्रियों के मार्जन के लिये उत्तेजना देने की व्यवस्था रखनी चाहिये। स्मृति मे भी भेद होता है। कुछ व्यक्तियों मे पुरानी से पुरानी घटना स्मरण रखने

की शक्ति होती है और कुछ मे नहीं। अच्छी स्मृति से यह तात्पर्य नहीं है कि अधिक से अधिक मात्रा मे सभी बातों का हर घड़ी ध्यान रहे। व्यर्थ की बातों को भूल जाना अच्छी स्मृति के लक्षण हैं। इस क्षेत्र मे भी परीक्षाओं का अन्वेषण हुआ है।

यद्यपि मानव की व्यक्तिगत विशेषताओं को नापने के लिये मनोविज्ञान-क्षेत्र मे बहुत सी परीक्षाएँ निकली हैं तथापि कोई ऐसा माप-बिंदु नहीं है जिसके आधार पर ठीक माप लिया जा सके। शरीर की बनावट तथा शारीरिक क्रिया-प्रक्रिया का भेद बतलाया जा सकता है, परन्तु मानसिक विशेषताओं का भेद बतलाना सहज नहीं।

पैतृक विशेषता

अब प्रश्न उठता है कि वैयक्तिक भेद का कारण क्या है? प्रयोजनवाद के प्रवर्त्तक मैकडूगल का कथन है कि वैयक्तिक भेद प्रायः पैतृक विशेषता के कारण होता है। बिने ने भी इसका समर्थन किया है। बालक अपने माता-पिता के अनुरूप होता है। प्रतिभाशील माता-पिता के बालक प्रतिभाशील और मूर्ख के मूर्ख होते हैं। माता-पिता का स्वभाव यदि चिड़चिड़ा रहता है तो बालक का भी स्वभाव चिड़चिड़ा होता है; माता-पिता यदि सौम्य स्वभाव के हैं तो बालक भी सौम्य स्वभाव का होता है। माता-पिता आकांक्षी हैं तो बालक भी आकांक्षी होगा। एक ही माता-पिता के दो बालकों मे समानता न होने का कारण यह है कि एक बालक वंश और माता-पिता से एक वर्ग की विशेषताएँ लाता है और दूसरा बालक दूसरे वर्ग की। कोई भी बालक सभी विशेषताओं को लेकर पैदा नहीं होता। बालक ओवम और स्पर्म से बना है। इनमे छोटे-छोटे कोष्ठ (सेल्स्) होते हैं जिन्हें क्रोमोजोम्स कहते हैं। क्रोमोजोम्स की विशेषता पर बालक की विशेषता निर्भर है। क्रोमोजोम्स मे पृथक्ता होने के कारण जुड़वाँ बच्चों मे भी पृथक्ता आ जाती है। गौल्टन और थॉर्नडाइक ने जुड़वाँ बच्चों की मानसिक अवस्था का विशेष रूप से

अध्ययन किया है और उनका भी कथन है कि जुड़वाँ बच्चे एक से नहीं मिलते।

वैयक्तिक भेद का दूसरा कारण वातावरण है। दो बालक, प्रतिभा और अभिरुचि मे समान होते, कार्य करने के गुण और परिमाण मे वातावरण के कारण एक दूसरे से भिन्न हो जा सकते हैं। बात यह है कि किसी व्यक्ति मे कैसी भी प्रतिभा हो, जब सुविधाएँ या अनुकूल वातावरण मिलता है तभी उसकी छिपी हुई शक्ति प्रस्फुटित हो सकती है। अन्यथा वह विशेषता उपयोग मे न आ सकने के कारण कुंठित पड़ जाती है। दो बालक समान रूप से प्रतिभावान थे। बारी-बारी से कक्षा में प्रथम आते; किन्तु आगे जाकर उनमे से एक डॉक्टर बना और दूसरा पुस्तक-विक्रेता। पहला बालक धनी घर का था और उसे सभी सुविधाएँ मिलीं और उसका अध्ययन चलता रहा। दूसरा आठवीं कक्षा तक ही पढ़ पाया कि जीविका के लिये उसे नौकरी करनी पड़ी। प्रतिभा समान रहने पर भी वातावरण के कारण भेद हो गया। सामाजिक अभाव वैयक्तिक भेद का कारण हुआ।

वातावरण

इस प्रकार पैतृक विशेषता और वातावरण दोनों ही वैयक्तिक भेद के मुख्य कारण हैं। आधुनिक मनोविज्ञान मे वातावरण पर अधिक बल दिया गया है। इस सम्बन्ध मे एडलर का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

मन सम्बन्धी परीक्षाएँ

अठारहवीं शताब्दी मे मन की विशेषताओं का अनुमान सिर की बनावट से लगाया जाता था। मस्तिष्क मे मानसिक क्रियाओं के लिये अलग-अलग स्थान होते हैं। इसलिये लोगों के मन मे यह विचार उठा कि सिर के नाप और बनावट से मन का अनुमान लगाया जा सकता है। इस सिद्धान्त के सम्बन्ध मे गॉल और स्पर्जहिम के नाम प्रसिद्ध हैं। सन् १७७५–७८ मे लैवेटर ने मुखाकृति विज्ञान पर लेख लिखा और उसमे यह बतलाया कि मुख की बनावट से मनुष्य की योग्यता और स्वभाव का पता लग जा सकता है। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त मे लौम्ब्रोजों ने यह प्रकाशित किया कि जिस व्यक्ति के मुख के ललाट नाक और अन्य भाग की बनावट विच्चित्र होती है वह व्यक्ति प्रत्यावर्त्तित होता है—उसका मानसिक विकास भली प्रकार नहीं हुआ रहता। सन् १८८३ में गौल्टन ने यह प्रस्ताव किया कि बौद्धिक योग्यता का पता लगाने के लिये कुछ परीक्षाएँ निकालनी चाहिये और ये इस प्रकार की हों कि इनका प्रयोग मनोवैज्ञानिक प्रयोगशाला मे किया जा सके। गौल्टन का अनुमान था कि संवेदन की तीव्रता से बौद्धिक योग्यता का पता लग सकता है। जिन बालकों की संवेदन-शक्ति तीव्र मिली उन्हें बुद्धिमान माना गया। बालक की स्पर्श-संवेदन की तीव्रता नापने के लिये उसकी त्वचा को दो बिन्दु पर स्पर्श किया जाता था। जो बालक कम से कम दूरी पर बिन्दु होने पर भी यह अनुभव कर सकता कि उसकी त्वचा को दो अलग-अलग बिन्दु पर स्पर्श किया जा रहा है उसका बौद्धिक विकास अधिक समझा जाता था और जो न कर पाता उसका कम। बौद्धिक विकास का पता लगाने के लिये यह विधि भी वैज्ञानिक नहीं किन्तु समझी जा सकती। सम्भव है जिन बालकों का बौद्धिक विकास नहीं हुआ

है उनका स्पर्श-संवेदन तीव्र हो। क्रिया-परीक्षा से भी बुद्धि का पता नहीं लगाया जा सकता। सन् १९०६ मे कार्ल पिअर्सन ने पाठशाला के पाँच हजार बालकों और विद्यालय के एक हजार विद्यार्थियों की परीक्षा लेकर यह निष्कर्ष निकाला कि शरीर की बनावट से बौद्धिक विशेषता का कोई भी अनुमान नहीं लगाया जा सकता।

बीसवीं शताब्दी मे मनोविज्ञान-क्षेत्र मे बुद्धि, अभिरुचि (ऐप्टीच्यूड) और स्वभाव का पता लगाने के लिये वैज्ञानिक परीक्षाएँ निकाली गयी।

बुद्धि-परीक्षा

शिक्षा के लिये ये परीक्षाएँ बहुत महत्व की हैं। इनमे बुद्धि-परीक्षा सबसे अधिक उपयोगी और महत्व की है। मनोविज्ञान मे 'बुद्धि' शब्द का प्रयोग विशेष अर्थ मे किया गया है। सामान्य दृष्टि से हरएक व्यक्ति मे बुद्धि नहीं होती; कुछ व्यक्तियों मे ही होती है। मनोविज्ञान की दृष्टि से हरएक व्यक्ति मे बुद्धि अवश्य होती है। कोई भी व्यक्ति बिना बुद्धि का नहीं होता। हाँ, एक मे अधिक हो सकती है और दूसरे मे कम। एक व्यक्ति प्रखर बुद्धि का हो सकता है और दूसरा व्यक्ति मन्द बुद्धि का। मात्रा मे भेद होता है। कक्षा मे सब प्रकार के विद्यार्थी मिलते हैं। कुछ विद्यार्थी तो पढ़ने-लिखने मे बहुत तेज होते हैं। शिक्षक ने कुछ बतलाया, उसे तुरत समझ लिया और याद कर लिया। कुछ विद्यार्थियों के मस्तिष्क मे कुछ नहीं बैठता। बात यह है कि पहले वर्ग के विद्यार्थी प्रखर बुद्धि के हैं और दूसरे वर्ग के मन्द-बुद्धि के। पहले वर्ग मे कुछ पैदायशी विशेषता है जिससे वे सफल होते हैं और दूसरे वर्ग मे कुछ पैदायशी कमी है जिससे वे सफल नहीं हो पाते।

बुद्धि क्या है? इस सम्बन्ध मे अनेक मत हैं। कुछ मनोवैज्ञानिकों के अनुसार 'बुद्धि' का अर्थ है 'क्रियात्मक कुशलता'। यदि कोई व्यक्ति अपना कार्य कुशलता से निबटाता है तो उसकी बुद्धि प्रखर समझी जाती है; यदि वह नहीं कर पाता तो उसकी बुद्धि मंद समझी जाती

है। जब बढ़ई अपना कार्य कुशलता से करता है, लोहार बर्तन बनाता है और कुम्हार मिट्टी का घड़ा तब उनकी बुद्धि प्रखर समझी जाती है। कहने का तात्पर्य है कि कार्य-कुशलता से बुद्धि मापी जाती है। इसी के अनुपात मे बुद्धि प्रखर और मंद समझी जाती है।

कुछ के अनुसार प्रत्यक्षीकरण-कुशलता से बुद्धि नापी जा सकती है। जिस व्यक्ति मे देखने-सुनने और अनुभव करने की माद्दा का अधिक विकास हुआ है वह व्यक्ति प्रखर बुद्धि का है; जिसमे नहीं हुआ है वह मंद बुद्धि का है। जो व्यक्ति रंग मे भेद बता देता है और जिसे किसी वस्तु के आकार का पूरा ज्ञान है—देखते ही इसका ज्ञान हो जाता है कि वस्तु छोटी है या बड़ी, त्रिकोड़ है या चौकोण; जो व्यक्ति सुनते ही यह समझ लेता है कि यह राग भैरवी है और वह वागेश्वरी या यह खमाच है और वह बिलावल और शिक्षक का भाषण सुनते ही इतिहास की घटना को स्मरण कर लेता है; जो स्पर्श करते ही किसी वस्तु के गुण का अनुमान लगा लेता है वह अधिक बुद्धि का है। बालक की बुद्धि नापने के लिए हल्की-भारी, रंग-विरंग और आकार-प्रकार की वस्तुएँ दी जाती हैं।

दूसरों के अनुसार 'बुद्धि' का मापक एकाग्रता-शक्ति है। जो अपने मन को एकाग्र कर सके वह प्रखर बुद्धि का है; जो न कर सके वह मंद बुद्धि का है। यह तो भारतीय परम्परा है कि ध्यानावस्थित होना मनुष्य की एक बड़ी विशेषता है। इसका आध्यात्मिक महत्त्व है। बालक वही बुद्धिमान है जो पुस्तक पर ध्यान एकाग्र कर सके और जो कुछ शिक्षक बतलावे उसे सुनकर समझने का प्रयत्न करे।

कुछ मनोवैज्ञानिकों के अनुसार 'बुद्धि' का अर्थ सीखने की समर्थता है। जो व्यक्ति किसी कार्य को करना जल्दी सीख जाता है वह बुद्धिमान है; जो जल्दी नहीं सीखता वह मंदबुद्धि है। जिसमे अधिक बुद्धि होती है उसे कोई कार्य एक बार समझाना काफ़ी है—किसी को

करते देखा और समझ लिया; जिसमे कम होती है उसे बार-बार बतलाने पर भी उसकी समझ मे नहीं आता।

'बुद्धि' का अर्थ किसी तत्त्व पर गूढ़ विचार करना और समस्या सुलझाने का यत्न करना भी है। इसीलिये दार्शनिकों और वैज्ञानिकों मे अधिक बुद्धि मानी गयी है। न्यूटन पहला वैज्ञानिक था जिसने यह ढूँढ़ा कि पृथ्वी मे आकर्षण शक्ति है जिसके कारण जब कोई वस्तु गिरती है वह केन्द्र की ओर जाती है।

अमेरिका के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक बर्ट के अनुसार 'बुद्धि' पैदायशी मानसिक क्षमता है और इसको बढ़ाया-घटाया नहीं जा सकता। स्टर्न के अनुसार 'बुद्धि' का अर्थ है किसी व्यक्ति मे किसी कार्य को करने, समझने और विचार करने की सामान्य (जी) और विशेष (एस) योग्यता का होना, जिससे वह नयी समस्याओं और परिस्थितियों को समझता-बूझता है और अपने को उन परिस्थितियों से सामंजस्य स्थापित करने के योग्य बनाता है। बौद्धिक कार्य बहुत कुछ सामान्य योग्यता अर्थात् 'जी' पर निर्भर होता है। फ्रांस के मनोवैज्ञानिक बिने ने पहले-पहल बुद्धि-परीक्षा का अनुसन्धान किया। उनका कथन है कि बुद्धि मे ज्ञान, आविष्करण, निर्देशन एवं आलोचना की शक्ति निहित है। वुडवर्थ के अनुसार बुद्धि का अर्थ दूरदर्शिता है जिसके रहने से व्यक्ति पिछले अनुभव का उपयोग करता है और नयी परिस्थिति के अनुसार अपने को नये ढाँचे मे बदल लेता है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक टर्मन के अनुसार 'बुद्धि' का माप सूक्ष्म स्तर पर विचार करना है।

इस प्रकार मनोविज्ञान मे बुद्धि की बहुत परिभाषाएँ मिलती हैं। वास्तव मे, बुद्धि एक प्रकार वातावरण से सामंजस्य स्थापित करने की स्वाभाविक माद्दा है और इसमे वृद्धि नहीं की जा सकती। यह अवश्य है कि उपयोग मे लाने से बुद्धि सक्रिय रहती है और उसमे विकास होता है। पन्द्रह-सोलह वर्ष की अवस्था तक बुद्धि का विकास चरम

सीमा को पहुँच जाता है। इसके बाद इसका विकास नहीं होता। यही कारण है कि पन्द्रह-सोलह वर्ष का युवक विद्यालय मे ऊँची शिक्षा पाये विद्यार्थी के साथ कुशलतापूर्वक प्रतियोगिता या वाद-विवाद मे भाग ले सकता है। सोलह वर्ष के बाद नयी-नयी बातों का अनुभव तो वह करता है, पर उसकी मानसिक आयु नहीं बढ़ती। स्थिर हो जाती है।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य मे डा० एडवर्ड सेगुइन ने बालकों की बुद्धि का पता लगाने के लिए एक प्रकार का नया फार्मबोर्ड तैयार किया। यह फार्मबोर्ड लकड़ी का बना था और इसमे तीन कटान थे। कटान त्रिकोण, चौकोण और गोल थे। उन्हीं कटान के आकार और नाप के लकड़ी के टुकड़े भी बने थे। बालकों की परीक्षा लेने के उद्देश्य से उन्होंने यह आदेश दिया कि वे इन कटानों को फार्मबोर्ड मे बैठावें। जो बालक कम समय मे बिना भूल किये कटानो को फार्मबोर्ड मे बैठा देता उसे प्रखर बुद्धि का समझा जाता; जो अधिक समय लगाता और भूलें करता—गोल आकार के कटान को चौकोण मे बैठाने का प्रयत्न करता—उसे कम बुद्धि का। इस प्रकार सेगुइन ने बालकों की बुद्धि के बारे मे जो निष्कर्ष निकाला उसे उन्होंने सन् १८४३ में प्रकाशित किया।

बिने का सिद्धान्त

सेगुइन के बाद बिने का ध्यान, इस ओर गया। बिने ने यह अनुभव किया कि बालकों को उपयुक्त शिक्षा देने के लिए उनका वर्गीकरण करना आवश्यक है। जो बालक अधिक बुद्धि के हैं उन्हें ऊँचे स्तर की शिक्षा दी जाय और जो कम बुद्धि के हैं उन्हें उससे नीचे स्तर की। यह तभी सम्भव था जब मनोवैज्ञानिक परीक्षाओं का अन्वेपण करके बालकों की मानसिक आयु का पता लग जाता। इस सम्बन्ध मे बिने की जो सूझ थी उसे उन्होंने सन् १९०५ मे पेरिस की पत्रिका 'एने साइकॉलजिक' मे प्रकाशित किया। सन् १९०५ की बिने-माप मे तीस

परीक्षाएँ थीं। बिने ने परीक्षाओं के लिए प्रश्नों की जो सूची तैयार की उसमे कुछ प्रश्न सरल थे और कुछ जटिल। पहली परीक्षा मे दृश्य सम्बन्धी प्रश्न थे जिनसे यह पता लगाया जा सकता था कि बालक मे किसी वस्तु को देखकर उसके आकार और रंग को पहचानने और उस वस्तु को समझने की शक्ति कितनी है। जिस बालक मे एक आकार को दूसरे आकार से पृथक् करने की क्षमता मिली वह तीव्र बुद्धि का माना गया; और जिसमे नहीं मिली वह मंद बुद्धि का। दूसरी परीक्षा मे स्पर्श-उत्तेजन दिया गया। छठवीं परीक्षा के द्वारा यह पता लगाने का प्रयत्न किया गया कि बालक मे कार्य करने की कितनी शक्ति है। ग्यारहवीं परीक्षा से स्मृति का पता लगाया जाता। बाकी परीक्षाए कठिन थीं और उनका उत्तर सही-सही वे ही बालक दे पाते थे जिनँमे सूक्ष्म बातों पर विचार करने की शक्ति होती।

सन् १९०८ मे बिने ने एक दूसरा माप प्रकाशित किया। इसमे उम्र के अनुसार अलग-अलग उम्र के बालकों के लिए अलग-अलग प्रश्नों की सूची बनायी गयी। यह निर्धारित करना सरल नहीं था कि किस उम्र के बालक के लिए किस प्रकार के प्रश्न उपयुक्त होंगे क्योंकि एक उम्र के बालकों मे भी मानसिक विकास के सम्बन्ध मे भेद होता है। सम्भव था कि एक ही उम्र के कुछ बालक प्रश्नों का उत्तर दे पाते और कुछ न दे पाते। यह सब कठिनाई होते, बहुत से बालकों पर प्रयोग करके बिने ने बुद्धि-परीक्षा के लिए प्रश्नों की सूची तैयार कर ली।

तीन वर्ष के बालक के लिए बिने ने नीचे लिखी प्रश्नों की सूची निर्धारित की—

१. नाक, कान, आँख तथा मुँह बतलाना।

२. वाक्य दुहराना—मै भूखा हूँ, पानी बरसता है।

३. संख्या दुहराना—एक बार सुनने पर कम से कम दो अंक दुहराना।

४. चित्र दिखा कर पूछना इसमे क्या है ?

५. नाम बोलना।

छः वर्ष के बालक के लिये निम्नलिखित प्रश्न थे :

१. दाहिना और बायाँ बतलाना।

२. वाक्य दुहराना—कम से कम सोलह अक्षर का वाक्य दुहरा सके।

३. किसी चित्र को दिखलाकर यह प्रश्न करना कि इसमे तुम्हें कौन-सी चीज सबसे सुन्दर लगती है।

४. जो चीजें दैनिक प्रयोग की हैं उनके बारे मे वर्णन करने के लिये कहना।

५. तीन काम एक साथ करने के लिये आदेश करना—चाभी लेकर ताला बंद कर देना और मेज पर रखी पुस्तक लेते आना।

६. समय बतलाना।

जिस आयु के लिये जो प्रश्न बिने ने निर्धारित किया उन प्रश्नों के द्वारा बालक की मानसिक आयु का पता लगाया जा सकता है। यदि बालक अपनी उम्र के लिये निर्धारित सभी प्रश्नों का सही-सही उत्तर देता है तो इसका अर्थ है कि उसकी मानसिक आयु और वास्तविक आयु बराबर है। यदि सब प्रश्नों का उत्तर नहीं दे पाता तो इसका अर्थ है कि उस बालक की मानसिक आयु कम है। जब वह सब प्रश्नों का उत्तर देने के अतिरिक्त कुछ और ऊँचे स्तर के प्रश्नों का भी उत्तर देता है तब उस बालक की मानसिक आयु औसत बालक से अधिक समझी जाती है। बालक की मानसिक आयु का पता लग जाने पर उसकी बुद्धि का भी ठीक अनुमान किया जा सकता है।

बिने-परीक्षा का सफलता से उपयोग करने के लिये परीक्षक को कुछ बातें ध्यान मे रखना आवश्यक है।

१. परीक्षक को बिने-परीक्षा के संबंध मे विस्तार से ज्ञान होना चाहिये।

२. परीक्षक को परीक्षार्थी का विश्वासपात्र बनना है। अन्यथा भय और मानसिक दुर्बलता के कारण परीक्षार्थी उसके प्रश्नों का उत्तर ठीक नहीं दे पावेगा। उत्तर जानते हुये भी वह उत्तर नहीं बतला पायेगा।

३. परीक्षक के लिये यह आवश्यक है कि वह बालक को बराबर प्रोत्साहन देता रहे। निरुत्साह रहने पर वह प्रश्नों का उत्तर नहीं देगा।

४. जिस स्थान मे परीक्षा ली जाय वहाँ शांति होनी चाहिये। भीड़ न हो। शोर न हो। कमरा हवादार हो। और कमरे मे कोई अन्य व्यक्ति उपस्थित न हो।

५. परीक्षक को इस प्रकार की व्यवस्था रखनी चाहिये कि बालक परीक्षा के समय या बाद मे थकान का अनुभव न करे।

६. बालक की बुद्धि के बारे मे परीक्षक ने जो निष्कर्ष निकाला है उसे बालक को नहीं बतलाना चाहिये।

बुद्धि-परीक्षा का यह आविष्कार बिने ने थियोडर सिमन के साथ किया था। इसलिये यह माप 'बिने सिमन स्केल' के नाम से प्रसिद्ध है। बुद्धि-परीक्षा संबंधी 'बिने सिमन माप' बहुत महत्व का है; किन्तु इसमे दोष भी हैं—

बिने-परीक्षा के दोष

१. इससे केवल बालकों की बुद्धि मापी जा सकती है; प्रौढ़ व्यक्तियों की नहीं।

२. बिने-सिमन-माप व्यक्तिगत परीक्षा है। इसमे एक-एक करके सबकी परीक्षा बारी-बारी से ली जाती है। जब बड़ी संख्या मे बालकों की परीक्षा लेनी होती है तब कठिनाई पड़ती है। एक-एक बालक की अलग-अलग परीक्षा लेने से समय अधिक लगता है और व्यय भी अधिक पड़ता है। कभी-कभी तो यह बिल्कुल ही अव्यावहारिक सिद्ध

होती है। स्कॉटलैंड मे जब नब्बे हजार बालकों की बुद्धि-परीक्षा लेने का प्रश्न उठा तब लोगों का ध्यान इस ओर गया कि कुछ ऐसी परीक्षाएँ निकलनी चाहिये जिनका प्रयोग एक साथ बहुत से बालकों पर किया जा सके; और सामूहिक परीक्षाओं का अन्वेषण हुआ।

३. बिने-सिमन परीक्षा पूर्ण रूपेण वैज्ञानिक नहीं है। सन् १९११ मे बिने ने स्वयं अपने माप मे संशोधन किया और फिर तो बराबर संशोधन होता रहा।

अमेरिका के मनोवैज्ञानिक टर्मन का 'स्टैन्डफोर्ड संशोधन' बहुत प्रसिद्ध है। उन्होंने बिने-सिमन-माप को एक नया रूप दिया। टर्मन का कहना है कि 'बुद्धि' मानसिक आयु का वास्तविक आयु से भागफल है। मानसिक आयु का तात्पर्य पैदायशी ज्ञानात्मक शक्ति से है। इसमे शिक्षा द्वारा वृद्धि नहीं होती। अच्छी शिच्छा मिलने से बालक का बौद्धिक विकास होता है पर मानसिक आयु नहीं बढ़ती। टर्मन के अनुसार मानसिक आयु को वास्तविक आयु से भाग करके भागफल को सौ से गुणा करने पर बुद्धि-मात्रा का पता लगता है; इससे उन बालकों का भी पता लग जाता है जिनमे मानसिक दोष होता है।

टर्मन का सिद्धान्त

$$\frac{\text{मानसिक आयु}}{\text{वास्तविक आयु}} \times १०० = \text{बुद्धि-मात्रा}$$

परीक्षा लेने पर जिन बालकों की बुद्धि-मात्रा १०० से अधिक रही उन्हें प्रखर बुद्धि का समझा गया; जिनकी १०० से कम रही उन्हें मंद बुद्धि का; और जिनकी बुद्धि मात्रा १०० के इर्द-गिर्द रही उन्हें साधारण बुद्धि का समझा गया। मंद बुद्धि मे कई श्रेणियाँ हैं। जिनकी बुद्धि-मात्रा १५-३० है वे जड़ समझे जाते हैं; ४०-७० है तो निर्बल; और ७०-९० है तो अल्प बुद्धि समझे जाते हैं। मंद बुद्धि मे जड़ सबसे नीची श्रेणी के हैं। उन्हें यह भी नहीं मालूम रहता है कि स्वास्थ्य के लिये

भोजन आवश्यक है। किसी ने खिला दिया तो खा लिया, यदि भोजन नहीं मिला तो इसकी खोज मे नहीं जायेंगे। जो निर्बल हैं वे बौद्धिक कार्य नहीं कर सकते; किन्तु मेहनत-मजूरी करके अपना पेट पाल लेते हैं और अपनी गृहस्थी चला लेते हैं। इस प्रकार अपने व्यक्तित्व और वातावरण मे सामञ्जस्य स्थापित कर लेते हैं।

सामान्य रूप से बुद्धि-परीक्षा दो प्रकार से ली जाती है—व्यक्तिगत और सामूहिक। व्यक्तिगत परीक्षा मे हरेक व्यक्ति की अलग परीक्षा ली जाती है; सामूहिक मे सब व्यक्तियों की एक साथ परीक्षा ली जाती है। व्यक्तिगत परीक्षा मे प्रश्न पूछा जाता है या कुछ कार्य करने के लिये दिया जाता है। जो कुछ उत्तर मिलता है या जो कुछ कार्य होता है उसके आधार पर उसकी बुद्धि का अनुमान लगाया जाता है। बिने की परीक्षा मौखिक और व्यक्तिगत है। इसका उल्लेख हो चुका है। कार्य-निपुणता-परीक्षा (परफॉरमेन्स टेस्ट) मुख्य रूप से निरक्षर व्यक्तियों के लिये है। फार्मबोर्ड मे लकड़ी के टुकड़े बैठाना पड़ता है, या नकशे को देखकर लकड़ी के दिये हुये रंग-बिरगे क्यूबस् से वही नकशा बनाना पड़ता है। जो बालक कम समय मे बना लेता है वह प्रखर बुद्धि का माना जाता है और जो अधिक समय लेता है और उलट-फेर करता है वह मन्द बुद्धि का।

बुद्धि-परीक्षा के प्रकार

व्यक्तिगत परीक्षा वैज्ञानिक होती है और निष्कर्ष ठीक निकलता है। दोष यह है कि इसमे व्यय अधिक होता है और समय भी अधिक लगता है। जब बहुत से बालकों की बुद्धि-परीक्षा लेनी होती है तब यह अव्यावहारिक ठहरती है।

सामूहिक परीक्षा का प्रयोग बहुत से बालकों पर एक साथ किया जाता है। इसमे खर्च कम पड़ता है और समय की बचत होती है। जब बहुत से बालकों की परीक्षा एक साथ लेनी हो तब तो यह अनिवार्य्य

हो जाती है। किन्तु सामूहिक परीक्षा मे भी दोष हैं। इसका निर्णय वैज्ञानिक नहीं होता। प्रयोग उन व्यक्तियों पर नहीं किया जा सकता जिन्हें भाषा का ज्ञान नहीं है। केवल उन्हीं व्यक्तियों पर यह प्रयोग किया जा सकता है जो पढ़ना-लिखना जानते हैं और प्रश्नों का उत्तर मौखिक या लिखित दे सकते हैं। सामूहिक परीक्षा मे बालक को अधूरा वाक्य पूरा करने के लिये दिया जाता है; यह भी पूछा जाता है कि दिये हुये शब्दों मे से कौन-सा शब्द वाक्य मे बैठेगा। कुछ शब्द दिये रहते हैं और उनका उलटा लिखना पड़ता है इत्यादि। सामूहिक परीक्षा के लिये सभी भाषा मे प्रश्न पत्र छपवाने पड़ते हैं; नहीं तो, जो बालक उस भाषा से परिचित नहीं हैं जिसमे प्रश्न पत्र छपे हैं, उन पर प्रयोग नहीं किया जा सकता।

किसी प्रकार हो, शिक्षा के लिये बुद्धि-माप की आवश्यकता है—

बुद्धि-परीक्षा से लाभ

१. बुद्धि-माप से यह पता लगता है कि बौद्धिक योग्यता मे भेद होता है। एक बालक दूसरे से आकृति और शरीर की बनावट मे ही भिन्न नहीं होता, वह मानसिक विशेषता की दृष्टि से भी भिन्न होता है। यह सोचना गलत है कि सब बालक पाठशाला मे बराबर उन्नति करेंगे। यदि एक विद्यार्थी अध्ययन मे कमजोर है और दूसरा चतुर है तो इसमे आश्चर्य नहीं। बात यह है कि एक मे जन्मदत्त प्रतिभा अधिक है और दूसरे मे कम है। इस बात को ध्यान मे रखकर शिक्षक को अपनी योजना बनानी चाहिये और विद्यार्थी के प्रति एक-सा व्यवहार रखना चाहिये।

२. बुद्धि-माप से ही यह स्थापित किया गया है कि मनुष्य की वास्तविक आयु और मानसिक आयु सदैव एक नहीं होतीं। सम्भव है उसकी वास्तविक आयु मानसिक आयु से अधिक हो। दस वर्ष के बालक की मानसिक आयु पाँच वर्ष के बालक के बराबर हो सकती है।

जिस प्रकार कुछ व्यक्ति उम्र मे बड़े हो जाते हैं पर देखने मे बौने ही बने रहते हैं, उसी प्रकार कुछ व्यक्तियों का मानसिक स्तर बालक की ही अवस्था पर स्थिर कर जाता है। इसके बाद विकास नहीं होता। शिक्षक को इस बात का ज्ञान होना बहुत आवश्यक है। उसे यह भी पता लगाने का प्रयत्न करना चाहिये कि बालक जन्मदत्त दोष के कारण शिक्षा मे पीछे है या परिस्थिति के कारण। उसे इस ओर भी ध्यान देना चाहिये कि जिन बालकों मे मानसिक दोष है उन्हें विशेष शिक्षालयों मे तो भेजने की आवश्यकता नहीं है। तभी वह कुशलता से विद्यार्थी की बौद्धिक योग्यता के अनुसार शिक्षा की व्यवस्था कर सकेगा।

३. जीवन मे जीविका का भारी प्रश्न है। यह जानने पर कि बालक का बुद्धि-स्तर क्या है यह निश्चित किया जा सकता है कि वह किस प्रकार के कार्य की शिक्षा पाने योग्य है। सब प्रकार के कार्य के लिये बराबर बुद्धि नहीं चाहिये। कुछ वर्ग के कार्य को सीखने और सफलता से करने के लिये अधिक बुद्धि चाहिये और कुछ वर्ग के कार्य औसत या मन्द बुद्धि होने पर भी आसानी और सफलता से किये जा सकते हैं। अध्ययन-कार्य के लिये अधिक बुद्धि की आवश्यकता पड़ती है। जिसकी बुद्धि-मात्रा ७०—९० है वह विद्यालय की ऊँची शिक्षा के लिये अयोग्य है। इस स्तर पर वह दस्तकारी की शिक्षा से लाभ उठा सकता है। जिसकी बुद्धि-मात्रा २०—४० है वह केवल शरीर से मेहनत-मजूरी का काम कर सकता है। जब तक बालक की बुद्धि का स्तर ऊँचा न हो, उसे विद्यालय मे भेजने के लिये जबर्दस्ती करना व्यर्थ है। मन्द बुद्धि का बालक ऊँची शिक्षा के लिये सर्वदा अयोग्य है। आधुनिक युग मे शिक्षा के व्यावहारिक पहलू पर अधिक बल दिया गया है और इसी कारण पाठशाला मे अब व्यावसायिक शिक्षा की व्यवस्था हो गयी है। जब बालक की बुद्धि-मात्रा का अनुमान शिक्षक को प्रारम्भ मे ही लग जाता है तब बालक की बुद्धि के स्तर की व्याव-

सायिक शिक्षा पर बल दिया जा सकता है। बालक को किस प्रकार के कार्य के लिये शिक्षा मे प्रोत्साहन दिया जाय, यह उसकी बुद्धि का पता लगाने पर ही निश्चित किया जा सकता है।

४. बुद्धि-परीक्षा से शिक्षक और शिक्षार्थी दोनो को ही लाभ होता है। शिक्षक की मेहनत व्यर्थ नहीं जाती—शिक्षार्थी के बौद्धिक स्तर का ठीक ज्ञान रहने पर वह इस प्रकार की व्यवस्था करता है जिससे कक्षा मे प्रखर, साधारण और मंद बुद्धि के शिक्षार्थी समान रूप से लाभ उठा सकें। जब वह अपने शिक्षार्थी के ज्ञान, विचार, स्मृति, कल्पना इत्यादि मानसिक क्रियाओं के विकास के संबंध मे नहीं जानता, वह शिक्षार्थी के अनुरूप शिक्षा नहीं दे पाता। इससे शिक्षार्थी को हानि होती है। यदि शिक्षा का स्तर ऊँचा है तो औसत और नीचे स्तर के शिक्षार्थी विषय को नहीं समझेंगे। दूसरों से पिछड़े रहने के कारण उनके मन मे हीनत्व ग्रंथि पड़ेगी। कक्षा से भाग कर सड़क मे खेलेंगे। यदि शिक्षा का स्तर नीचा है तो प्रखर बालक की जिज्ञासा जाग्रत नहीं होगी और अध्ययन मे रुचि भी नहीं रहेगी। मानसिक विकास न होकर मानसिक ह्रास होने लगेगा। इसलिये बुद्धि-परीक्षा द्वारा शिक्षार्थी के ज्ञान के स्तर को समझ कर उपयुक्त रूप से उनका वर्गीकरण करके उन्हें शिक्षा देनी चाहिये।

जिस प्रकार मनोविज्ञान क्षेत्र मे बुद्धि -परीक्षा है, उसी प्रकार आचरण संबंधी परीक्षाओं का भी अन्वेषण हुआ है। आचरण मुख्य रूप से इस बात पर निर्भर होता है कि किसी व्यक्ति की वृत्ति का परिमार्जन कहाँ तक हुआ है, और उसके संवेगों का संघटन हाकर उसमे स्थायी भावों का निर्माण हुआ है अथवा नहीं। माता-पिता के सौहार्द्र और उपयुक्त शिक्षा के कारण जिनकी वृत्तियों का परिमार्जन हो जाता है उनका आचरण समाज के अनुकूल होता है। जिनकी वृत्तियाँ परिमार्जित नहीं हो पायी हैं उनका आचरण प्रकृत रहता है और उनका व्यवहार प्रवृत्ति-शील होता है। शिक्षा का उद्देश्य यह है कि बालक अपने मे दृढ़ता का

भाव उत्पन्न करे, हर एक कार्य को सोच विचार कर करने की आदत डाले, और अपने मे विश्वास पैदा करे। जिस प्रकार बालक मे सामान्य और विशेष बुद्धि का होना आवश्यक है उसी प्रकार उसके आचरण मे दृढ़ता का होना आवश्यक है। कक्षा मे अच्छा स्थान पाने के लिये सामान्य और विशेष बुद्धि के अतिरिक्त, तत्परशीलता और काम मे लगन भी रहनी चाहिये।

आचरण-परीक्षा

आचरण मे कुछ मुख्य विशेषताएँ होती हैं और कुछ गौण। मुख्य विशेषताएँ वे हैं जिनका सम्बन्ध संवेग और वृत्ति से है—अपने को छोटा समझना, हुकूमत चाहना, समाज मे भाग लेना इत्यादि। गौण विशेषताएँ वे हैं जिनका सम्बन्ध मुख्य संवेग और वृत्ति से नहीं है—अपने मे विश्वास रखना, ईमानदारी होना, एकता और सौहार्द्र भाव रखना इत्यादि। आचरण की इन विशेषताओं को वैज्ञानिक रूप से जानना-समझना आसान नहीं है। एक व्यक्ति बड़े समूह के बीच रहना चाहता है, दूसरा केवल मित्रों के साथ, और तीसरा एक दो निजी मित्रों के साथ रहना पसन्द करता है। तीनों प्रकार के व्यक्ति आचरण मे सामाजिक हैं। केवल इस आधार पर कि वह समूह मे खेलना पसन्द नहीं करता, यह नहीं कहा जा सकता कि वह सामाजिक नहीं है। बालक मे किसी के प्रति दया और सौहार्द्र का भाव रहता है और किसी के प्रति नहीं। कोई बालक अपने भाई-बहिन से तो झगड़ा करता है और साथियों को लेवनचूस, चाकलेट और खिलौने देता है। एक कुटुम्ब मे चार वर्ष का एक बालक था। घरवालों खिलौना उठा लेते तो तूफान मचा देता। मित्रों को खुशी-खुशी सब दे देता। ऐसी स्थिति मे यह कहना कठिन होता है कि वह दयालु है या क्रूर। कोई व्यक्ति अपने से निर्बल के प्रति अकारण विद्रोह करता है और कोई केवल विशेष परिस्थिति मे दूसरों के उपकार के लिए। इसलिए यह नहीं कहा जा

सकता कि विद्रोह की भावना सदा बुरी होती है। अगुआ बनने की भावना के लिए कभी मन मे रचनात्मक योजनाएँ रहती हैं और कभी हुकूमत करने की वृत्ति। शिक्षक को बालक के आचरण का विवरण बहुत सावधानी से तैयार करना चाहिये। ऐसा न हो कि वह बालक को कुछ समझ बैठे जब वह वास्तव मे कुछ और है। सब पहलू को ध्यान मे रखकर उसे अपना निर्णय देना चाहिये। आचरण-परीक्षा निरीक्षण पर निर्भर है।

आचरण और स्वभाव मे भेद होता है। दो व्यक्ति आचरण मे समान होते हुए—दोनों की वृत्तियाँ सुसम्बन्धित हैं और एक ही प्रकार के व्यवहार से संचालित—स्वभाव मे भिन्न हो सकते हैं। सम्भव है अन्याय होते देखकर एक तो आग-बबूला हो उठे और दूसरा सोचे 'जाने भी दो'।

निम्न परीक्षाओं से किसी व्यक्ति के आचरण, स्वभाव, और व्यक्तित्व का बहुत कुछ पता लग जाता है—

१. चित्र-कथानक-परीक्षा—इसमे चित्रों का प्रयोग किया जाता है। ये चित्र प्रयोगपात्र को एक-एक करके दिखलाये जाते हैं और उससे यह कहा जाता है कि निश्चित समय के भीतर चित्र पर वह कहानी लिखे। चित्र को देखकर प्रयोगपात्र अपनी भाव कल्पना से प्रेरित होकर जो कुछ लिखता है उसके आधार पर उसके आचरण स्वभाव तथा व्यक्तित्व का विश्लेषण किया जाता है। बात यह है कि मन मे जैसी भावना रहती है वैसा ही आकार और भाव चित्र मे मिलता है। कथा के रूप मे प्रयोग-पात्र अपने आचरण स्वभाव तथा व्यक्तित्व का दिग्दर्शन कराता है।

२. कहानी-पूरक-परीक्षा—प्रयोगपात्र को अधूरी कहानी दी जाती है और उससे यह कहा जाता है कि वह अपने मन से कहानी पूरी करे। जो कुछ कहानी वह लिखता है उससे उसके आचरण स्वभाव तथा जीवन की व्यक्तिगत कठिनाइयों का पूरा पता लग जाता है।

३. अबाध मनःआयोजन-परीक्षा—प्रयोगपात्र को यह आदेश दिया जाता है कि जो कुछ उसके मन में आवे उसे वह निर्बाध गति से कहता जाय। इससे भी प्रयोगपात्र के आचरण का बहुत कुछ विश्लेषण हो जाता है।

४. आत्मकथा-परीक्षा—जिस व्यक्ति की आचरण-परीक्षा लेनी है उससे यह कहा जाता है कि वह अपने जीवन की कथा पर एक लेख लिखे और उस लेख से उसकी व्यक्तिगत विशेषताओं का पता लगाया जाता है।

५. प्रश्न-परीक्षा—आचरण और स्वभाव के प्रसंग में कुछ प्रश्न पूछे जाते हैं। जैसे, तुम्हें क्या यहाँ अकेलापन महसूस नहीं होता? तुम पर यदि कोई हाथ चलावे तो तुम क्या करोगे? इत्यादि।

६. निरीक्षण-परीक्षा—बच्चों का निरीक्षण करके उनके आचरण और स्वभाव का आसानी से पता लगाया जा सकता है, विशेषकर जब वे सैर के लिये जावें। यदि सब बालक आपस में मिल-जुलकर खेल-कूद रहे हैं और बहुत प्रसन्न हैं तो यह कहा जायगा कि वे आचरण से सामाजिक हैं और स्वभाव से प्रसन्नचित्त हैं। जो बालक अकेले खेलते हैं या चुपचाप बैठे रहते हैं उन्हें एकाकी स्वभाव का कहा जाता है।

यह पहले ही लिखा जा चुका है कि विद्यार्थियों के आचरण का विवरण रखना आवश्यक है। इस कारण शिक्षक को आचरण सम्बन्धी सभी मनोवैज्ञानिक परीक्षाओं से परिचित होना चाहिये। तभी वह ठीक-ठीक विवरण दे सकेगा। विद्यार्थियों की ज्ञानात्मक शक्ति का केवल पता लगाना पर्याप्त नहीं है। परिचय से आचरण का ठीक अनुमान नहीं लगाया जा सकता। दो-चार प्रश्न पर्याप्त नहीं हैं। दो शिक्षक एक ही विद्यार्थी के बारे में पृथक्-पृथक् राय ठहरा ले सकते हैं।

शिक्षा की दृष्टि से यह भी जानना आवश्यक है कि पाठशाला में बालक कहाँ तक ज्ञान प्राप्त कर रहा है। इसका वैज्ञानिक रूप से पता लगाने के लिये आजकल मिकैनिकल रीडिंग टेस्ट, मिकैनिकल राइटिंग टेस्ट और अरिथमेटिक टेस्ट इत्यादि निकले हैं। पहले विद्यार्थी से

केवल थोड़े से प्रश्न पूछे जाते थे, यदि इन प्रश्नों का उत्तर वह न दे पाता तो यह समझा जाता था कि उसने कुछ नहीं सीखा है। यह भी था कि निर्णय बहुत कुछ निर्णायक के मन पर निर्भर था। इस प्रकार का निर्णय ठीक नहीं होता था। ज्ञानप्राप्ति की नई परीक्षा-प्रणाली मे विद्यार्थियों से उन विषयों पर जिनका उन्होंने अध्ययन किया है बहुत से प्रश्न पूछे जाते हैं। विद्यार्थी कुछ प्रश्नों का उत्तर अवश्य देता है और इससे जो निर्णय उसकी ज्ञानप्राप्ति के बारे मे दिया जाता है वह ठीक होता है। यह बात नहीं रह जाती कि विद्यार्थी भय के कारण जबाब न दे।

ज्ञान प्राप्ति-परीक्षा

इस प्रकार मनोविज्ञान मे बहुत-सी मन संबंधी परीक्षाओं का अनुसंधान हुआ है और शिक्षा मे इनका उपयोग भी है। इन परीक्षाओं से शिक्षा की समस्या वैज्ञानिक रूप से सुलझाई जा रही है। विद्यार्थियों की बुद्धि का पता लग जाने से उनका वैज्ञानिक रूप से वर्गीकरण करके हरेक विद्यार्थी के लिये उसकी बुद्धि के स्तर के अनुकूल शिक्षा का प्रबन्ध किया जा रहा है। आचरण तथा स्वभाव की परीक्षाओं से विद्यार्थियों की प्रकृत वृत्ति और संवेग का अनुमान किया जा सकता है और फिर प्रकृत इच्छाओं के परिमार्जन का साधन शिक्षालयों मे जुटाया जा सकता है। ज्ञानप्राप्ति-परीक्षाओं से यह पता लग जाता है कि वे पाठशाला मे शिक्षा से क्या लाभ उठा रहे हैं। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि शिक्षा-विधि मे कहाँ तक दोष है और यह भी कि यह कहाँ तक विद्यार्थीवृंद के लिए उपयुक्त सिद्ध हो सकती है। इससे शिक्षा-विधि के सुधार की ओर ध्यान जाता है। बालक कभी भी निकम्मा नहीं होता। उसमे कुछ न कुछ विशेषता-योग्यता रहती है। उस विशेषता योग्यता का विकास करना शिक्षा का मुख्य कार्य है। शिक्षा का कार्य अप्रस्फुटित को प्रस्फुटित करना है।

अज्ञात मन

अज्ञात मन हमारे सम्पूर्ण मन का एक बड़ा भाग है। मनोविश्लेषण के प्रवर्त्तक फ्रायड का कथन है कि मन के तीन चौथाई भाग मे अज्ञात मन फैला है। उन्होंने मन की तुलना बर्फ की बड़ी चट्टान से की है जिसका केवल छोटा-सा भाग पानी के ऊपर दिखाई पड़ता है। जो भाग दिखाई पड़ता है वह ज्ञात मन के लिये है। विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान के प्रवर्त्तक युंग ने मन की तुलना सागर से की है जिसमे ज्ञात मन केवल एक द्वीप के समान है। अज्ञात मन क्षेत्र मे ही बड़ा नहीं है, यह बड़ा प्रभावशाली है। इसका प्रभाव व्यक्तिगत आचरण तथा व्यवहार-निर्माण पर बहुत पड़ता है। अज्ञात मन हमारी शारीरिक और मानसिक—चेष्टात्मक, बोधात्मक और भावात्मक—क्रियाओं का संचालन करता है। साधारण और असाधारण, जाग्रत और सुस-सभी क्रियाएँ अज्ञात मन से संचालित होती हैं और उनपर इसका प्रभाव परोक्ष रूप से सदैव पड़ता रहता है। सच पूछो तो इसी पर व्यक्तित्व का विकास आश्रित है। किसी के अज्ञात मन मे विरोधी भावों के द्वन्द्व से जितनी ही अधिक भावना-ग्रंथियाँ पड़ जाती हैं उतना ही जटिल और संघर्षमय उसका जीवन हो जाता है। किसी व्यक्ति का व्यवहार और उसकी क्रियाएँ साधारण होने का अर्थ है कि उसके अज्ञात मन मे भावना-ग्रन्थियाँ नहीं पड़ी हैं अथवा उसके आभ्यन्तरिक क्षेत्र मे संघर्ष नहीं है, और इस प्रकार उसका जीवन सुलझा-सा है। यदि किसी व्यक्ति का व्यवहार साधारण नहीं है तो इसका अर्थ है कि उसका अज्ञात मन जटिल है; प्रकृत इच्छा और आदर्श मे समझौता न होने के कारण वह अद्‌भुत विचार आदत भय और चिंता से आक्रान्त है। संघर्ष के कारण मन के निचले स्तर मे गुत्थियाँ पड़ गयी हैं।

अज्ञात मन से जैसा कि साधारणतः समझा जा सकता है, यह तात्पर्य नहीं कि इसमे जो विचार संचित हैं उनका अनुभव नहीं होता और मनुष्य उन्हें नहीं जानता-समझता। वास्तव मे अज्ञात मन एक अनुभवात्मक शक्ति है। यह पहली विशेषता है। सामान्य जीवन मे भी अज्ञात मन की प्रतिक्रिया का अनुभव होता रहता है। मानसिक रोग, स्वप्न, दैनिक क्रियाएँ और सम्मोहनोत्तर घटनाओं के आधार पर भी अज्ञात मन का अस्तित्व प्रमाणित किया गया है। यह निरी कल्पना नहीं।

अज्ञात मन की विशेषताएँ

दूसरी विशेषता है कि अज्ञात मन गतिशील है। इसमे सदा दो विरोधी इच्छाओं अथवा विचारों मे संघर्ष चलता रहता है, यद्यपि उनकी चेतना नहीं रहती। यह मूलवृत्ति और आदर्श का संघर्ष है। अज्ञात मन कभी भी निश्चेष्ट नहीं रहता। कुछ न कुछ क्रिया सदैव चलती रहती है।

अज्ञात मन की तीसरी विशेषता है कि यह ऐन्द्रिय वासना-तृप्ति-सिद्धान्त से संचालित होता है—वास्तविक जगत के नियमों से इसका संबंध नहीं है। किसी निष्कर्ष पर पहुँचने के लिये ज्ञात मन को वास्तविकता के आधार पर विचार-विमर्श करना आवश्यक होता है। वह सामाजिक प्रतिबंध और नैतिक-अनैतिक का ध्यान रखता है। इसके विपरीत, अज्ञात मन सामाजिक नियमों से परिसीमित नहीं है। इसका कार्य केवल मूलवृत्ति का समाधान करना है। समाज अच्छा कहे या बुरा, इसका उसे ध्यान नहीं रहता। अज्ञात मन उसी कार्य को करता है जो उसकी वासना को तृप्त करता है। हाँ, यह अवश्य है कि जब अज्ञात मन की इच्छाओं को रंगमंच पर ज्ञात मन आने नहीं देता तब अज्ञात मन परवश हो जाता है। वह युक्तियाँ ढूँढ़ता है और अपनी कार्य-पद्धतियों की सहायता से इच्छाओं को दूसरे रूप मे तृप्त करता है।

अज्ञात मन की चौथी विशेषता है कि इसकी इच्छाएँ वास्तविक रूप मे प्रकट नहीं होतीं। इसका कारण है कि अज्ञात मन इच्छाएँ

कामवृत्ति से संबंधित होती हैं और इन पर समाज का अधिक से अधिक नियंत्रण होता है। कामवृत्ति से संबंधित इच्छाओं की अभिव्यक्ति सामाजिक परम्परा के प्रतिकूल है। इस कारण अज्ञात मन की वासनाओं पर प्रतिबंध रहता है। किंतु अज्ञात मन की इच्छाएँ बड़ी बलवती होती हैं। वे निष्क्रिय पड़ी नहीं रह सकतीं। अभिव्यक्ति के लिये रास्ता ढूँढ़ा करती हैं। फलस्वरूप इच्छाओं को छद्मवेश मे प्रकट होने का प्रबन्ध होता है। यह सब करने की आवश्यकता अज्ञात मन को न पड़ती यदि ज्ञात मन इन इच्छाओं को प्रकृत रूप मे प्रकट होने मे बाधा न डालता। ऐसा मनोविश्लेषण के समर्थकों का मत है। युंग के अनुसार ऐसा नहीं है कि ज्ञात मन के प्रतिबंध के कारण ही अज्ञात मन की इच्छाएँ परोक्ष रूप मे प्रकट होती हैं। वास्तव मे अज्ञात मन का यह स्वभाव है। प्रतिबंध हो या न हो, अज्ञात मन की यह विशेषता है कि वह अपनी इच्छाओं को परोक्ष रूप मे प्रकट करता है। उसे परोक्ष-प्रदर्शन अधिक रुचिकर होता है।

इस विषय पर कि अज्ञात मन का विषय-वस्तु क्या है—किस प्रकार की इच्छाएँ इसमे संग्रहीत रहती हैं—मनोवैज्ञानिकों मे मतभेद है।

अज्ञात मन का विषय-वस्तु

फ्रायड के अनुसार अज्ञात मन मे केवल काम-संबंधी इच्छाएँ होती हैं। कुछ तो प्रकृत रूप मे प्रारंभ से पड़ी रहती हैं और कुछ सामाजिक प्रतिबंध के कारण इकट्ठी हो जाती हैं। समाज का सबसे अधिक प्रतिबंध काम-संबंधी-इच्छाओं पर है। इस कारण इस वृत्ति का सबसे अधिक दमन किया जाता है और ये दमन की हुई इच्छाएँ अज्ञात मन की सामग्री बन जाती हैं। मानव-जीवन सामाजिक होने से और नैतिक मन का प्रतिबंध होने से इच्छाओं का दमन अवश्य होता है, इसका प्रभाव मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य पर भले ही कुछ हो।

युंग के अनुसार मन मे जो इच्छाएँ संचित हैं वे केवल कामवृत्ति

संबंधी नहीं हैं। परिस्थिति से बाध्य होकर जिन किन्हीं इच्छाओं का दमन होता है वे अज्ञात मन का भाग बन जाती हैं। उनके अनुसार मनुष्य मे बहुत प्रकार की इच्छाएँ होती हैं और वातावरण के कारण किसी भी इच्छा का दमन हो सकता है और वह इच्छा अज्ञात मन का भाग बन सकती है। एडलर के अनुसार मन के निचले स्तर की ग्रन्थि आत्मप्रतिपादन वृत्ति संबंधी होती है। मनुष्य को कभी तो धन का अभाव रहता है और कभी समाज मे ऊँचे स्थान का। वह इस अभाव की परिस्थिति मे हीनत्व-ग्रंथि डाल लेता है। किंतु वास्तव मे सबसे अधिक दमन कामवृत्ति संबंधी इच्छाओं का ही होता है और इस कारण अज्ञात मन मे अधिकतर काम संबंधी इच्छाएँ ही संचित रहती हैं। यदि मनुष्य इस वृत्ति से सम्बंधित इच्छाओं को ज्ञात मन मे सुलझा लेता तो उसका अज्ञात मन सरल हो जाता।

युंग ने अज्ञात मन के विषय-वस्तु के बारे मे एक और नयी धारणा उठायी है। वह यह है कि अज्ञात मन मे केवल दमन की हुई इच्छाएँ नहीं हैं, बल्कि कुछ और भी है। अज्ञात मन के एक भाग मे दबी हुई इच्छाएँ हैं और दूसरे भाग मे संवेगात्मक प्रतिमाओं के रूप मे जातीय विशेषताएँ हैं। उन जातीय विशेषताओं का भी प्रभाव मनुष्य के व्यवहार पर पड़ता रहता है। अज्ञात मन के दो भाग हैं: वैयक्तिक अज्ञात मन और सामूहिक अज्ञात मन। वैयक्तिक अज्ञात मन मे दमन की हुई इच्छाएँ इकट्ठी रहती हैं और सामूहिक अज्ञात मन मे जातीय विशेषताओं का संग्रह रहता है।

अज्ञात मन की महत्ता

अज्ञात मन की महत्ता स्वप्न का विश्लेषण करने पर मालूम पड़ती है। निद्रावस्था मे चेतन क्रियाएँ मौन हो जाती हैं। बाह्य जगत का ज्ञान नहीं रह जाता। ज्ञात मन निद्रा मे रहता है; फिर भी मनुष्य स्वप्न देखता है और स्वप्न का सारा व्यापार-व्यवहार अनुभव करता है। इसका कारण

यह है कि निद्रावस्था मे अज्ञात मन सक्रिय रहता है। मन का निचला भाग कार्य करता रहता है। ज्ञात मन का प्रतिबंध शिथिल पड़ जाता है। बाह्य जगत से संबंध न होने के कारण वह स्वप्न मे अनोखी वस्तुएँ देखता है। स्वप्न का वैज्ञानिक विवेचन तब तक संभव नहीं है जब तक ज्ञात मन के परे अज्ञात मन का अस्तित्व स्थापित नहीं होता। अज्ञात मन की इच्छाओं और कार्य-पद्धतियों का अध्ययन किये बिना स्वप्न की ठीक व्याख्या नहीं की जा सकती। स्वप्न के प्रसंग मे अज्ञात मन का बहुत महत्व है। स्वप्न अज्ञात मन की इच्छा का पूरक होता है।

विक्षिप्तावस्था का विवेचन भी अज्ञात मन के ही आधार पर किया जा सकता है। पहले अकारण हँसना, रोना, भयभीत होना, और चिंतित होना एक पहेली समझ पड़ता था। या इस प्रकार के अद्‌भुत व्यवहार का कारण भूत-प्रेत समझा जाता था। हिस्टीरिया आने पर झाड़-फूँक की जाती थी। अभी तक गाँवों मे यही प्रथा चली आ रही है। परन्तु आधुनिक मनोविज्ञान मे नये तत्वों के अन्वेषण से ऐसे अवैज्ञानिक विचारों मे परिवर्त्तन हो गया है। अब यह पता लग गया है कि इसका विवरण अज्ञात मन का विश्लेषण करने से मिल सकता है। जब कभी किसी व्यक्ति के मन के निचले भाग मे बहुत-सी दबी इच्छाओं का संचय हो जाता है और भावना-ग्रन्थियाँ पड़ जाती हैं तब वह अद्‌भुत और असाधारण व्यवहार करने लगता है। कभी तो उसे भ्रम होता है—यह कि सब उसे जलील कर रहे हैं, उसके मन को ठेस पहुँचाने के लिये षडयंत्र रच रहे हैं। कभी उसे भ्रांति होती है—कोई वस्तु सामने नहीं है, फिर भी मुँह की आकृति इस प्रकार बनावेगा मानो किसी से बात कर रहा है। इस तरह वह ऐसा महसूस करेगा मानो कोई उसे बुला रहा है। प्रायः बचपन की दुःखभरी अनुभूतियों की पुनरावृत्ति अज्ञात मन मे सदैव हुआ करती है और ये अनुभूतियाँ ही विक्षिप्तता का कारण बनती हैं।

फ्रायड के पारिभाषिक शब्द मे इसे 'ट्रामा' कहते हैं। कभी ये हिस्टीरिया मे की हुई शारीरिक चेष्टाओं के द्वारा प्रदर्शित होती हैं और कभी 'स्थिर भ्रम' के रोगी के भ्रमात्मक विचारों द्वारा। अज्ञात मन मे बचपन की जो कुछ अनुभूतियाँ संचित रहती हैं वे हमारे मन की क्रियाओं पर विशेष प्रभाव डालती रहती हैं। विक्षिप्त व्यक्ति के भ्रम, भ्रान्ति, मानसिक ह्रास, मानसिक विच्छेद इत्यादि का विवरण प्राप्त करने के लिये मन के निचले स्तर का गूढ़ अध्ययन करना आवश्यक है। तभी मानसिक रोग का निवारण भी किया जा सकता है। अज्ञात मन सब प्रकार के मानसिक रोगों की जड़ है; और जब तक उसके विषय-वस्तु के बारे मे पूरा परिचय नहीं मिल जाता तब तक मानसिक रोग का उपचार संभव नहीं होता।

इसी प्रकार दैनिक क्रियाओं का विवेचन करने पर भी अज्ञात मन की महत्ता का पता लगता है। कोई व्यक्ति किसी कार्य को करना भूल जाता है, पुस्तक मे लिखा कुछ है और पढ़ता कुछ है, कविता कहने मे भूलें करता है, या उपहार इधर उधर रख देता है—इन सबका कारण अज्ञात मन मे निहित है। अज्ञात मन मे ही पिछला अनुभव संचित है जो समय-समय से याद आता रहता है। सम्मोहन की अवस्था मे मनुष्य को जो कुछ करने का आदेश दिया जाता है उसे वह चेतना मे आने पर भी नियत समय पर करता है। किसी व्यक्ति को सम्मोहित करके यह आदेश दिया गया 'कल पाँच बजे स्टेशन जाकर हमारे मित्र को आवभगत के साथ लाना'; वह नियत समय पर गया और कार्य कर आया। अज्ञात मन के ही कारण ऐसा होता है।

संक्षेप मे यह है कि मानव की सब क्रियाओं का वृत्तांत अज्ञात मन मे मिलता है। मानव व्यवहार का कारण जानने के लिये उसके अज्ञात मन को जानना है और उसके व्यवहार मे सुधार लाने के लिये उसके अज्ञात मन को सरल बनाने का प्रयत्न करना है। कुटुम्ब और पाठ-

शाला का वातावरण इस प्रकार रखना है कि उसके संवेग और वृत्ति का दमन कम से कम होवे जिससे उसके मन मे भावना-ग्रन्थियाँ पड़ने न पावें। भावना-ग्रन्थियों से अज्ञात मन जटिल हो जाता है। भावना ग्रन्थियों के गूढ़ और जटिल होने पर व्यक्तित्व पूर्णरूपेण विच्छेद हो जाता है। मन अस्थिर हो जाता है। इच्छाशक्ति निर्बल हो जाती है। दृढ़ता नहीं रह जाती। मनुष्य अपने मे विश्वास खो देता है। मन मे विकार उत्पन्न होने से वह मानसिक रोग का शिकार होता है। इसी कारण अच्छा यह है कि इच्छाओं को प्रारम्भ से ही परिमार्जन करके उनका प्रदर्शन उच्च प्रकार की क्रियाओं मे किया जावे। परिमार्जन करते रहने से अज्ञात मन मे इच्छाओं का ढेर न लगेगा। मनुष्य किसी न किसी रूप मे इच्छाओं से ज्ञात मन मे निपट लेगा। यह समझना गलत है कि जब कोई इच्छा ज्ञात मन से हटा दी जाती है वह अक्रियमाण हो जाती है। मनोविश्लेषण के अनुसार तो दबी हुई इच्छाएँ और भी सजग हो जाती हैं। जो इच्छा एक बार उठी वह मिटाई नहीं जा सकती; केवल मन के एक भाग से हटाकर दूसरे भाग मे भेज दी जाती है। दमन की हुई इच्छाओं का संग्रहालय होने के कारण ही अज्ञात मन अधिक सजग और प्रभावशाली माना गया है।

अज्ञात मन के बारे मे विस्तार से जानने के लिये सबसे अच्छी विधि 'विश्लेषण' है। जिस प्रकार बोटैनिस्ट फूल की पंखुड़ियों की जाँच करके फूल के बारे मे सब ज्ञान प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार विश्लेषण द्वारा मन मे जो कुछ भी है उसका ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। विश्लेषण करने के लिये सूक्ष्म दृष्टि, मन-संबंधी ज्ञान और संवेगात्मक दृष्टि से स्थिर मन का होना नितान्त आवश्यक है। रोगी प्रायः डॉक्टर के प्रति अनुपयुक्त रूप से आकर्षित हो जाता है। यदि डॉक्टर स्वभाव से संवेगात्मक रहा तो वह गुत्थी सुलझाने के बदले और भी उलझा देगा। सब दृष्टि से

विश्लेषण

व्यक्तित्व का अध्ययन करके अज्ञात मन के बारे मे ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

अज्ञात मन का विषय-वस्तु बहुत कुछ शिक्षा पर निर्भर है। यदि उपयुक्त शिक्षा द्वारा मनुष्य की वृत्ति, संवेग, स्वभाव इत्यादि का विकास कर दिया गया तो अज्ञात मन मे भावना-ग्रंथियाँ पड़ने का कारण नहीं रह जाता। शिक्षा और अज्ञात मन के विकास मे निकटवर्ती संबंध है। शिक्षा का मुख्य कार्य अज्ञात मन को सहज-सरल बनाना है।

असंतुलित बालक

यह अवश्य है कि संतुलन स्थापित करने की योग्यता जन्मजात होती है और जिनमे यह जन्मजात योग्यता होती है वे अपने को सरलता से संतुलित कर लेते हैं; किन्तु अच्छी शिक्षा से बालक को संतुलित रहना सिखलाया भी जा सकता है। मानसिक विकास के प्रसंग मे यह बतलाया जा चुका है कि वातावरण से संतुलन स्थापित करने का दायित्व बहुत कुछ इस बात पर है कि बालक का पालन-पोषण बचपन मे किस प्रकार हुआ है। बालक के भाव-विचार को बदलना सरल होता है। जो बालक बचपन मे वातावरण से संतुलित होना सीख जाता है वह आगे चलकर किसी भी परिस्थिति मे अपने को संतुलित कर लेता है। साधारणतः यदि बालक पर मानसिक आघात नहीं हुआ है, उसकी प्रकृत वृत्ति और संवेग का ध्यान रखकर कुटुम्बी और शिक्षक ने व्यवहार किया है तो बालक के असंतुलन की समस्या नहीं उठती। वह वातावरण से संतुलित हो जाता है। जब बालक के संवेग का उपयुक्त विकास नहीं होता तभी वह समस्या बालक बनता है।

मुख्यतः बालक दो दृष्टि से समस्या बालक बनता है और वातावरण से असंतुलित हो जाता है: बुद्धि की दृष्टि से और संवेग की दृष्टि से। बुद्धि की दृष्टि से बालक मंद बुद्धि का होने से असंतुलित हो जाता है। कभी-कभी तो अत्यधिक बुद्धि के कारण भी बालक समस्या रूप हो जा सकता है। जो बालक मंद बुद्धि के कारण समस्या बन जाता है उसे अनुन्नत बालक कहते हैं, यद्यपि अनुन्नत होने के और भी दूसरे अनेक कारण हैं। मंद बुद्धि न होते भी वह अनुन्नत हो सकता है।

अनुन्नत बालक पढ़ने-लिखने मे पिछड़े रहते हैं। विषय को समझने का स्तर औसत बालक से इनका नीचे रहता है। सब देशों का औसत

निकालने पर लगभग दस प्रतिशत् बालक अनुन्नत मिलते हैं। गाँव में अनुन्नत बालकों की संख्या शहर से अधिक होती है। गाँव मे लगभग बीस प्रतिशत् बालक अनुन्नत मिलते हैं। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक बर्ट के अनुसार अनुन्नत बालक वह है जिसका शिक्षा-भागफल (एजुकेशनल कोशेन्ट) ८५ प्रतिशत् से कम है। किसी बालक के शिक्षा-भागफल का पता उसका उन्नति-विवरण देखने से लग जाता है। दस वर्ष का बालक यदि भूगोल मे नौ वर्ष का है, गणित मे दस और डिक्टेशन मे आठ वर्ष का है तो वह नौ वर्ष के बालक के बराबर होगा और उसका शिक्षा-भागफल ९० होगा। इस प्रकार उसका शिक्षा-भागफल दस वर्ष के बालक से १० कम होगा। अनुन्नत बालक कभी तो सामान्य बुद्धि मे पिछड़ा होता है और कभी किसी विशेष विषय मे। जब चार वर्ष के बालक की बुद्धि का स्तर तीन वर्ष के बालक की बुद्धि के स्तर के बराबर होता है या इससे भी कम तब वह सामान्य बुद्धि की दृष्टि से पीछे रहता है; विशेष बुद्धि की कमी तब समझी जाती है जब बालक एक विषय मे आगे होता है और दूसरे विषय मे पीछे। बहुत से बालक साहित्य मे तो आगे रहते हैं किन्तु गणित मे पीछे रहते हैं। बालक के अनुन्नत होने के नीचे लिखे कारण हैं :

अनुन्नत बालक

१. मंद बुद्धि
२. दोषयुक्त स्वभाव
३. शरीर सम्बन्धी दोष-कमी
४. दोषयुक्त कौटुम्बिक वातावरण
५. पाठशाला की अव्यवस्था

पीछे रहने का मुख्य कारण मंदबुद्धि है। बर्ट ने बहुत से अनुन्नत बालकों का अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला है कि ६० प्रतिशत् बालक बुद्धि की कमी के कारण शिक्षा मे पीछे रहते हैं; ९ प्रतिशत्

स्वभाव के दोष के कारण उन्नति नहीं कर पाते; ९ प्रतिशत् बालक की उन्नति न होने का कारण शरीर सम्बन्धी दोष है; १२ प्रतिशत् बालक की उन्नति न होने का कारण दोषयुक्त कौटुम्बिक वातारण है और ८ प्रतिशत् का कारण पाठशाला का दोषयुक्त वातावरण है।* जो बालक बुद्धि की कमी के कारण पिछड़े हैं उनमे सुधार सम्भवतः नहीं किया जा सकता—उनके सुधार के लिए साधारण प्रयास व्यर्थ होता है। हाँ, विशेष व्यवस्था करके उन्हें वातावरण से केवल संतुलित किया जा सकता है। उनके लिए विशेष शिक्षालय स्थापित किये जा सकते हैं जहाँ उनके मानसिक स्तर के अनुकूल कार्य करने की और शिक्षा देने की व्यवस्था हो। तभी वे अपने मानसिक स्तर के अनुकूल शिक्षा पा सकेंगे। बुद्धि की कमी के कारण जो बालक पिछड़े हैं उन्हें यदि औसत स्तर की शिक्षा दी जाती है तो वे उस शिक्षा का कोई उपयोग नहीं कर सकते। अध्ययन करने का प्रयास विफल जाता है। सम्भव है अपने को असफल देखकर वे असामाजिक कार्यों मे लग जायँ। शिक्षक को यह ध्यान मे रखना है कि बहुत से कार्य कम बुद्धि रहने पर आसानी से किये जा सकते हैं और ऐसे ही कार्यों को इस वर्ग के बालकों को सिखलाना चाहिये। समाजवाद का युग है। व्यवसाय के लिए कार्य किसी भी वर्ग का हो, लोगों के मन मे उसके प्रति श्रद्धा-सम्मान होता है। इस प्रकार मंद बुद्धि के कारण पिछड़े रहने वाले बालकों के लिए विशेष प्रकार की व्यवस्था आवश्यक है। पाठशाला मे भर्ती करने के पहले बालकों का बुद्धि के आधार पर वर्गीकरण कर देना आवश्यक है।

कभी-कभी बालक का बुद्धि-भागफल औसत रहता है, किन्तु शिक्षा-भागफल कम रहता है और इस प्रकार वह अनुन्नत बालक के वर्ग मे रखा जाता है। ऐसी परिस्थिति मे बालक के पिछड़े रहने का कारण मंद बुद्धि नहीं है। स्वभाव के कारण बालक पिछड़ा होता है। स्वभाव

*वैलेनटाइन: 'साइकॉलजी ऐन्ड इट्स बेअरिंग औन एजुकेशन' पन्ना ६०९

से अत्यधिक अन्तर्मुखी होने पर बालक हर समय कल्पना-लोक मे विचरण करता है, काल्पनिक रंगीला स्वप्न देखा करता है और उसका ध्यान पढ़ने-लिखने की ओर नहीं जाता। इसी से वह अध्ययन मे पिछड़ा रहता है। अत्यधिक बहिर्मुखी होने के कारण भी बालक अध्ययन मे पिछड़ा रह सकता है। उसका मन हर समय मित्र-मंडली, खेल-तमाशा मे लगा रहता है। उद्विग्न स्वभाव का बालक भी ध्यान एकाग्र नहीं कर सकता और औसत बुद्धि होते हुए उन्नति नहीं करता। अध्ययन मे प्रकृत या अर्जित रुचि न होने से भी बालक पिछड़ा रहता है और उन्नति नहीं कर पाता।

इसी प्रकार शरीर संबंधी दोष-कमी होने के कारण बालक शिक्षा मे पिछड़ जाता है। जब स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहता, बुद्धि होते हुए वह कक्षा मे पिछड़ा रहता है। आँख और कान मे दोष होने के कारण बालक पिछड़ जाता है। कोई बालक जन्म से अंधा और बहरा होता है। किसी मे यह दोष बाद मे आ जाता है। अच्छी से अच्छी शिक्षा-व्यवस्था रहने पर भी यह दोष होने के कारण वह लाभ नहीं उठा सकता। हाँ, यदि उसके लिये विशेष प्रकार का शिक्षालय स्थापित किया जाय तो वह अपने को संतुलित कर सकता है। पहले तो इनके लिये कोई व्यवस्था नहीं थी, किन्तु अब आयोजन किया जा रहा है। अंधे और बहरे बालकों को स्पर्श-इन्द्रिय के द्वारा आसानी से शिक्षा दी जा सकती है।

कौटुम्बिक वातावरण का अच्छा न होना भी अवनति होने का बहुत बड़ा कारण है। बालक की उन्नति और अवनति मे माता-पिता का बहुत कुछ हाथ है। अत्यधिक प्यार करने से बालक मनमाना और उच्छृंखल हो जाता है। जी चाहा तो पुस्तक पढ़ी और जी न चाहा तो न पढ़ी। मन आया तो पाठशाला गये और मन न आया तो न गये। खेल-कूद मे वह अपना समय बिताता है और इस प्रकार वह अध्ययन

मे पिछड़ जाता है। माता-पिता की उदासीनता होने पर वह हीनत्व-ग्रंथि डाल लेता है, और हीनत्व-ग्रंथि डालने पर उन्नति की बहुत कम संभावना हो जाती है। विशेषकर संवेदनशील बालक बहुत अधिक अस्थिर हो जाता है। भावना-ग्रन्थियाँ पड़ जाने के कारण स्मृति-क्रिया कमजोर हो जाती है। जो कुछ समझने और पुनरावृत्ति करने का वह प्रयत्न करता है, भावना-ग्रन्थियों से आक्रान्त होने के कारण वह उसमे असफल होता है। अपनी गुत्थी मे उलझे रहने से वह ध्यान एकाग्र नहीं कर पाता और इस प्रकार कक्षा मे पिछड़ा रहता है। अध्ययन मे सफलता पाने के लिये स्मृति-क्रिया और ध्यान-क्रिया का विकास होना आवश्यक है। तभी अन्य मानसिक क्रियाओं—विचार और तर्क—के द्वारा बालक आगे बढ़ सकता है।

बालक के अनुन्नत होने का कारण पाठशाला का दोषयुक्त वातावरण भी है। यदि शिक्षक अपने ज्ञान और व्यवहार मे कुशल न रहा और शिक्षा की योजना ठीक न रही तो बालक का शिक्षा-भागफल अवश्य कम हो जाता है। शिक्षक का व्यवहार कठोर मिलने पर बालक को पाठशाला आने का उत्साह नहीं रह जाता, पाठशाला आने से जी चुराता है। एक ओर घर का कठोर नियंत्रण और दूसरी ओर पाठशाला मे शिक्षक का क्रूर व्यवहार। बस उसका मन इधर-उधर भटकने लगता है। पढ़ने-लिखने मे पिछड़ जाता है। बालक की रुचि अध्ययन मे नहीं रह जाती और बिना रुचि के वह किसी प्रकार उन्नति नहीं कर पाता। प्रत्यावर्तन होने लगता है। इसी कारण बालक के लाभ के लिये शिक्षा मे कठोर दंड की प्रथा अवांछनीय है।

इस प्रकार यह समझ मे आ जाता है कि बालक क्योंकर पीछे रहता है। जहाँ तक सुधार का प्रश्न है, बुद्धि की कमी होने पर प्रयास विफल जाता है। परन्तु अन्य कारणों का निवारण किया जा सकता है। बालक की मानसिक अवस्था, वृत्ति तथा प्रकृत आवश्यकताओं का

ध्यान रखकर कुटुम्ब और पाठशाला के वातावरण को सुधारा जा सकता है। शिक्षक अपने प्रेमपूर्ण व्यवहार से बालक के मन के भय के भाव को हटा सकता है और उसके ध्यान पर विजय पा सकता है। शिक्षक का व्यवहार नम्र और सौम्य होने से बालक की मानसिक अवस्था पर आघात नहीं होता और संवेग की दृष्टि से स्थिर होने के कारण वह उन्नति करता है। जिस बालक का मानसिक विकास प्रारम्भ से ही प्रतिबंधित है उसमे सुधार नहीं होता; जिसका विकास हो रहा है किन्तु किसी आकस्मिक घटना के कारण यह पीछे की ओर हो जाता है उसमे सुधार संभव है।

अब प्रश्न यह होता है कि क्योंकर ऐसे बालक भी अपने को वातावरण से संतुलित करने मे असमर्थ पाते हैं जिनकी बुद्धि औसत से अधिक है। अधिक बुद्धि के बालक की मानसिक आयु

उत्कृष्ट बालक

वास्तविक आयु से अधिक होती है। उसका बुद्धि-भागफल अधिकतर १६० के ऊपर रहता है। कभी-कभी तो बुद्धि-भागफल १८० हो जाता है। १४० से कम नहीं होता। मैकॉले का बुद्धि-भागफल १८० था। अत्यधिक बुद्धि के बालक का वातावरण से असंतुलित होने का कारण यह होता है कि उसे अपने मानसिक स्तर का वातावरण न तो कुटुम्ब मे मिलता है और न शिक्षा-संस्था मे। ऐसी स्थिति मे उसे निराशा मिलती है। मानसिक भूख जाग्रत है और मस्तिष्क सक्रिय है, किन्तु साधन नहीं है। बस वह शरारती बन जाता है। शिक्षालय मे शरारत करने और तूफान मचाने की युक्तियाँ निकालता है। उपयोग न होने के कारण उसकी बुद्धि का दुरुपयोग होने लगता है। डकैती, हत्या ऐसी वीभत्स क्रियाओं के लिये योजना बनाने मे अपनी बुद्धि का दुरुपयोग करने लगता है। ऐसे बालक के जीवन मे संतुलन लाने के लिये विशेष शिक्षा-संस्थाओं का होना आवश्यक है। उसकी शिक्षा के लिये अलग कक्षा होना चाहिये। यदि उसकी बुद्धि किसी विशेष विषय के लिये प्रखर है तो उस विषय की

शिक्षा देने की व्यवस्था करनी चाहिये। उत्कृष्ट बालक सामान्य और विशेष दोनों ही दृष्टि से प्रखर होता है। उसकी उपलब्धि के अनुसार उसे वृद्धि मिलना चाहिये। केवल यह ध्यान रहना चाहिये कि उसकी प्रशंसा और गुण का प्रदर्शन न किया जावे। प्रशंसा करने से वह अपने को बहुत कुछ समझने लगता है, घमण्डी बन जाता है, और अपने बराबर किसी को नहीं मानता। इसका प्रभाव अन्य बालकों पर अस्वास्थ्यप्रद होता है। उसकी प्रभुता-गुण-प्रदर्शन देखकर वे अपने मे हीनत्व-ग्रन्थि डाल लेते हैं।

बालापराधी

तीसरे वर्ग के असंतुलित बालक 'बालापराधी' हैं। जिन बालकों के संवेग और वृत्ति का उपयुक्त परिमार्जन नहीं हुआ रहता वे अपराधी वर्ग के बन जाते हैं। बालापराधी कभी तो झूठ बोलता है, कभी कक्षा से भागकर सड़कों पर खेलता है, दूसरे बालक के जेब से पैसा निकाल लेता है और किसी की चीज पड़ी हुई देखकर चुरा लेता है। इस प्रकार के अपराध यद्यपि साधारण वर्ग के हैं, तो भी इनसे प्रारम्भ में ही सजग रहना चाहिए। सम्भव है पैसा चुरानेवाला बालक आगे चलकर गिरहकट बने। बर्ट ने इसका दायित्व वातावरण पर रखा है। उनका कथन है कि वातावरण मे दोष होने से बालक की प्रवृत्ति प्रायः अपराध की ओर हो जाती है। उन्होंने १९७ अपराधी और ४०० निरपराध बालकों के परिवार की अवस्था का मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया और यह निष्कर्ष निकाला कि परिवार का दोषयुक्त अनुशासन तथा दोषयुक्त परस्पर सम्बन्ध ऐसे अपराध के प्रमुख कारण हैं।

बाल्यावस्था मे अपराध करने के कारण नीचे लिखे प्रकार हैं :

१. माता-पिता का कठोर अनुशासन
२. माता-पिता मे परस्पर स्नेह का अभाव
३. माता-पिता का अस्वास्थ्यप्रद व्यवहार

४. अनैतिकता

५. निर्धनता

कुटुम्ब के कठोर अनुशासन से बालक के आभ्यन्तरिक क्षेत्र मे विद्रोह होता है। उसे अपनी प्रकृत इच्छा को संतुष्ट करने का अवसर नहीं मिलता। फल-स्वरूप वह इधर-उधर उद्देश्यहीन बन घूमता है और बुरे संगी-साथी के कारण बुरी आदतें डाल लेता है। वह अस्थिर और उद्विग्न रहता है। गिरोह बनाकर असामाजिक कार्य के द्वारा अपनी प्रकृत वृत्ति को तुष्ट करता है। इस कारण अनुशासन के सम्बन्ध मे माता-पिता तथा शिक्षक को निम्न बातें ध्यान मे रखनी आवश्यक हैं :

१. अनुशासन परोक्ष रूप मे हो जिससे बालक अपने को स्वतन्त्र समझे और उसमे दायित्व का भाव उत्पन्न हो। जब वह अपने कार्य के लिए अपने को उत्तरदायी समझता है, वह अपराध नहीं करता। बालक को दबाने के लिए अनुशासन न हो।

२. अनुशासन इस प्रकार का हो कि बालक यह न अनुभव करे कि वह किसी का स्नेह-पात्र नहीं है—उस पर सब केवल नियन्त्रण रखते हैं। सहानुभूति दिखलाने पर बालक के व्यवहार और कार्य मे अधिक अच्छी व्यवस्था रखी जा सकती है।

३. बालक के सामने आदर्श-आचरण उतना ही ऊँचा रखना चाहिए जिसे बालक अपना सके। नहीं तो बालक उधर ध्यान ही न देगा। उदासीनता हो जाने से वह मनमाना करेगा।

४. अनुशासन और नियमन की निश्चित व्यवस्थाएँ रहनी चाहिए।

बाल अपराधियों की मानसिक अवस्था का विश्लेषणात्मक अध्ययन करने पर इस बात की पुष्टि होती है कि माता-पिता का कठोर नियन्त्रण बालक को अपराधी बनाने का बहुत बड़ा कारण है।

माता-पिता मे स्नेह-सम्बन्ध न पाने पर भी बालक की संवेगात्मक

अवस्था का विकास ठीक नहीं होता। जब बालक अपने माता-पिता मे परस्पर स्नेह और सौहार्द्र का भाव देखता है, उसमे भी स्नेह सहानुभूति का भाव उत्पन्न होता है। अन्यथा वह उच्छृंखल और स्वार्थी हो जाता है। माता-पिता के प्रति उसके मन मे आदर और श्रद्धा का भाव नहीं उत्पन्न होता। मनमाना करता है; उस पर किसी का अंकुश नहीं रह जाता। कभी तो घर मे प्रसन्नता और शान्ति न देखकर उसे जीवन के प्रति वैराग्य आता है और कभी वह बुरा रास्ता पकड़ता है। आगे चलकर अपना परिवार बसाने पर वह उसी प्रकार का जीवन बनाता है जिस प्रकार का उसने अपने माता-पिता मे देखा है।

माता-पिता के अस्वास्थ्यप्रद व्यवहार का भी प्रभाव बालक की संवेगात्मक अवस्था पर पड़ता है। बालक के प्रति माता-पिता का जब उदासीनता का व्यवहार रहता है तब उसमे हीनत्व ग्रंथि पड़ जाती है। वह सोचने लगता है 'मैं कुरूप हूँ, मूर्ख हूँ। इसी से स्वजन अवहेलना की दृष्टि से देखते हैं'। आभ्यन्तरिक क्षेत्र मे आत्म-सम्मान का भाव होने से विद्रोह होता है। वह मन ही मन युक्तियाँ ढूँढ़ता है। यदि सृजनात्मक कार्य न मिला तो अपनी प्रभुता दिखलाने के लिए कोई भी कार्य हाथ मे ले लेता है, भले ही वह समाज के लिए हानिप्रद हो। इस प्रकार अस्थिर मन और अतृप्त इच्छा के होने के कारण अच्छे-बुरे का भाव त्यज प्रकृत इच्छा को सन्तुष्ट करने के लिए वह कुछ भी कर सकता है। एक बालक से पूछा गया 'तुमने चोरी क्यों किया। तुम तो बड़े खानदान के हो, तुम्हें रुपये-पैसे की जरूरत क्या आ पड़ी'। जबाब दिया 'खानदान मे मेरी खबर लेनेवाला कौन है। सब अपने मे लगे हैं। मै अपने को अकेला और तिरस्कृत महसूस करता था। साथियों को जुटाया और इसी मे अपनी प्रकृत इच्छा की तुष्टि पाने लगा'। जब माता-पिता का व्यवहार अधिक प्रेम का होता है बालक इसका दुरुपयोग करता है। जिद्दी स्वभाव का बन जाता है

और निडर होकर मनमाना करता है। उत्कृष्ट यह है कि बालक के प्रति माता-पिता अपना व्यवहार समायोजित रूप मे रखें जिससे बालक की संवेगात्मक अवस्था पर ठेस न लगे और उसके मन के भाव का स्वस्थ विकास हो सके।

बालक के अपराधी बनने का कारण अनैतिक वातावरण भी है। जब बालक पैदा होता है उसमे नीति-अनीति की भावनाएँ नहीं रहतीं। वह नित्यानित्य रहता है। नीति-अनीति की भावनाएँ सामाजिक देन हैं। जब बालक अनैतिक वातावरण मे पलता है उसके मन का झुकाव अनीति की ओर हो जाता है। चोरी करते और झूठ बोलते देखकर वह भी चोरी करने लगता है और झूठ बोलने लगता है। जिस परिवार का वातावरण नैतिक रहता है वहाँ बालक के अपराधी बनने की कम सम्भावना रहती है। नैतिक वातावरण रहने पर भी यदि बालक अपराध करता है तो इसका कारण पाठशाला मे बुरे संगी-साथी का सम्पर्क होता है। यह तो अनुकरण का प्रश्न है।

बालक के मनोभाव पर निर्धनता का भी प्रभाव पड़ता है। इस पर प्लान्ट ने विशेष रूप से प्रकाश डाला है। मित्रों की शानशौकत देखकर बालक के मन मे असन्तोष जगता है। बालक सोचता है 'कलम घसीटता हूँ, फाउन्टेन मुझे कहाँ नसीब'। मन मे इस प्रकार की भावना रहने पर यदि वह कहीं फाउण्टेन पेन देखता है तो चुरा लेता है। सांख्यिक विवरण से पता लगा है कि ५० प्रतिशत् बाल-अपराधी निर्धन कुटुम्ब के होते हैं।

इस प्रकार बाल-अपराध के लिये कुटुम्ब पर बहुत दायित्व है। बालक के आचार-विचार, जीवन के प्रति रुख और व्यवहार पर कुटुम्ब का प्रभाव पड़ता है। यह मत बर्ट का रहा। रेकलेस और ब्रोनर ने इसपर आक्षेप किया है। उनका कथन है कि पारिवारिक अवस्था ठीक न रहने पर भी बालक अच्छा नागरिक बन सकता है। प्रायः अच्छे

कुटुम्ब के बालक असामाजिक कार्य करते हैं और बुरे कुटुम्ब के बालक दृढ़ और संयमी होते हैं। यह भी सम्भव है कि एक ही वातावरण मे एक बालक आचरण मे अच्छा हो और दूसरा न हो। यह तो स्वभाव का प्रश्न है। जिसकी प्रकृत इच्छा और संवेग का झुकाव जिस ओर हो जाय। सच तो यह है कि पृष्ठभूमि मे अतृप्त इच्छाए प्रकृत रूप मे रहती हैं और बालक को अपराध करने के लिए बाध्य करती हैं। मानसिक स्तर का अध्ययन करने पर पता लगता है कि ८० प्रतिशत् बालापराधियों मे मानसिक दोष रहता है।

असाधारण व्यवहार (एबनौरमल बिहेविअर) के कारण भी बालक असन्तुलित हो जाता है। यह समझना भूल है कि युवावस्था मे ही असाधारण व्यवहार होता है। बालक मे युवक की तरह वासनाएँ होती हैं और वासनाओं के ही कारण उसमे भावना-ग्रन्थियाँ पड़ती हैं। मानसिक दुर्बलता आती है। हिस्टीरिया का रोग बालक मे बहुत मिलता है। अत्यधिक विद्रोह करना, अकारण उत्तेजित होना असाधारण प्रकार के व्यवहार हैं। मानसिक दोष-कमी होने से बालक का व्यवहार असाधारण हो जाता है। इसमे पाँच प्रकार होते हैं जिनके शरीर की बनावट भी असाधारण होती है।

असाधारण व्यवहार

१. बौना (क्रेटिन) देखने मे बच्चा-सा होता है। वह कद से छोटा होता है, शरीर से मोटा। पैर छोटे होते हैं और वह धीरे-धीरे चलता है। चमड़ा रंग मे पीला सूखा मोटा और झुर्री पड़ा होता है। जीभ बड़ी होती है और होठ मोटा होता है। थॉयराइड ग्रन्थि से रस कम बहने के कारण बालक बौना हो जाता है। यदि इसका पता जल्दी ही लग गया और थायरॉक्सिन की सूई देने की व्यवस्था हो गयी तो शरीर और मन का विकास होने लगता है। यदि उपचार न किया गया तो बड़े होने पर भी वह ढ़ाई फुट से ऊँचा नहीं होता। कुछ लोगों का

कहना है कि यह छूत की बात है। बड़े होने पर भी जो बौने रहते हैं उनकी बुद्धि जड़-मूढ़ के बराबर होती है।

२. मगोलियन के शरीर की बनावट मंगोलियन जाति के लोगों की तरह होती है। उसका सिर छोटा होता है और सिर का पिछला भाग समतल रहता है। आँखें लाल होती हैं और जिभ्या बड़ी होती है। आयु अधिक नहीं होती। अधिक से अधिक चौदह वर्ष की होती है। इस वर्ग के बालक का उपचार कठिन होता है।

३. हाइड्रोसेफ्लेटिक बालक का सिर बड़ा होता है। यह मस्तिष्क मे अधिक जल इकट्ठा हो जाने से होता है। जब यह बहुत अधिक इकट्ठा हो जाता है इसका दबाव मस्तिष्क पर पड़ता है और उसके बहुत से कोष्ठ नष्ट हो जाते हैं। जितना अधिक जल इकट्ठा होता है उतने ही अधिक कोष्ठ नष्ट हो जाते हैं। इससे मानसिक ह्रास होता है। इस रोग का उपचार कठिन होता है। यदि जल निकालने का प्रयत्न किया भी जाय तो कोई स्थायी रूप से प्रभाव नहीं पड़ता।

४. माइक्रोसेफ्लेटिक बालक की अवस्था हाइड्रोसेफ्लेटिक के बिल्कुल विपरीत होती है। इसमे सिर बहुत छोटा होता है, बस मुश्किल से सत्रह इंच का। सिर का पिछला भाग समतल रहता है और आगे का उतार पर। मस्तिष्क का वजन असाधारण रूप से कम होता है। एक के सिर का वजन १७० ग्राम रहा जब कि औसत स्त्री के सिर का वजन १२४४ और पुरुष का १३७४ होता है। ऊँचाई भी कम होती है।

५. अपस्मार ग्रस्त (इपीलेप्टिक) बालक को बेहोशी की बीमारी रहती है। वह जबतब अचेत हो जाता है और शरीर अद्भुत ढंग से अकड़ जाता है। व्यवहार मे मानसिक ह्रास का लक्षण स्पष्ट होता है।

बालक के व्यक्तित्व मे संतुलन लाना और उसको भावना-ग्रन्थियों से मुक्त रखना शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है। बालक मे भावना-ग्रन्थियों का सामना करने का बल नहीं होता। किशोरावस्था मे यदि भावना-ग्रंथियाँ

पड़ती हैं तो मानसिक शक्ति अधिक होने के कारण किशोर उनका सामना कर लेता है। जब उपयुक्त शिक्षा की व्यवस्था की जाती है, बालक संतुलित व्यक्तित्व का निर्माण करता है और भावना-ग्रन्थियों से मुक्त रहता है। उसके आभ्यन्तरिक क्षेत्र मे अतृप्त इच्छाओं के कारण संघर्ष नहीं होता और उसका मानसिक विकास अपनी गति से चलता रहता है। जब बालक की वृत्ति-संवेग का परिमार्जन उपयुक्त रूप से हो जाता है वह संतुलित जीवन व्यतीत करता है। वातावरण से संतुलन रखने के बारे मे मनोविश्लेषण का यह सुझाव है कि मन मे कम से कम भावना-ग्रन्थियाँ पड़ने पावें। मानसिक संघर्ष को बाल्यावस्था से रोकना शिक्षा के लिये प्रमुख कार्य है।

प्रयोग

शिक्षा-मनोविज्ञान और प्रायोगिक मनोविज्ञान मे घनिष्ठ संबंध है, इसपर परिचय मे विस्तार से प्रकाश डाला जा चुका है। इन प्रयोगों से शिक्षा संबंधी सिद्धान्तों की पुष्टि होती है।

हरेक प्रयोग मे वैज्ञानिक रूप से पाँच अंग होते हैं—

१. समस्या

२. सामग्री

३. विधि

४. विवरण और

५. निष्कर्ष

स्वतंत्र संबंध-प्रयोग (निरंतर विधि)

समस्या—इस प्रयोग की समस्या यह पता लगाना है कि मनुष्य की विचार-धारा किन बातों से निर्धारित होती है।

सामग्री—उत्तेजक शब्द लिखे दो कार्ड, पेंसिल एक स्टॉप वाच।

विधि—इन्सट्रक्टर ने एक कार्ड मुझे दिया और एक मेरी सहपाठिनी को। मै प्रयोगकर्त्ता बनी और मेरी सहपाठिनी प्रयोगपात्र। जब इन्सट्रक्टर ने 'तैयार' कहा तब मै प्रतिक्रिया शब्द लिखने के लिये सतर्क हो गयी और मैने हाथ मे पेन्सिल ले लिया। प्रयोगपात्र ने नेत्र बंद कर लिया। जब इन्सट्रक्टर ने कहा 'प्रारंभ करो' तब मैने अपने कार्ड मे से पहला शब्द प्रयोगपात्र की प्रतिक्रिया लेने के लिये पढ़ा। मेरे शब्द को सुनकर उसके मन मे तुरत ही जो भी शब्द आये उन्हें वह लगातार कहती गयी। एक मिनट के बाद इन्सट्रक्टर ने कहा 'बस'। तब मैने अपनी सहपाठिनी से पूछना चाहा कि उसके मन मे ये सब शब्द कैसे

आये। इसके बाद मैने दूसरा शब्द लिया। जब तीन शब्द ले चुकी तब मै प्रयोग पात्र बनी और मेरी सहपाठिनी प्रयोगकर्त्ता। मेरी ही तरह उसने अपने कार्ड से मुझसे बारी-बारी से तीन शब्दों की प्रतिक्रिया ली। उसने ठीक वही किया जो मैने किया था। इसके उपरान्त हम लोगों ने फिर अपना कार्य बदला। मै प्रयोगकर्त्ता बनी और वह प्रयोग पात्र। मैने अपनी सूची के बचे हुए तीन शब्दों की प्रतिक्रिया सहपाठिनी से पहले की तरह लिया। फिर उसने उसी तरह अपने कार्ड के बचे हुये शब्दों की प्रतिक्रिया मुझसे लिया। मेरी ही तरह उसने भी मुझसे पूछा कि कैसे मैने ये सब प्रतिक्रियाएँ दी है।

विवरण—मेरे पास प्रतिक्रिया के शब्दों की लंबी सूची तैयार हो गई और मेरी सहपाठिनी के पास भी।

निष्कर्ष—मेरी सहपाठिनी की प्रतिक्रियाएँ औसत व्यक्तियों की तरह थीं। उसकी प्रतिक्रियाओं से यह स्पष्ट था कि उसकी विचारधारा मे क्रम और व्यवस्था थी। प्रयोग काफी रोचक रहा क्योंकि प्रयोगपात्र ने खुले मन से विवरण दिया। प्रयोगपात्र के मन मे बाहर जाने की लालसा छिपी थी और इसी भाव से उसकी सब प्रतिक्रियाएँ निर्धारित थीं।

नोटः—मेरे कार्ड के शब्द ये थे :

जहाज, हिमालय, रेडियो, पुस्तक, धन, चौक

'जहाज' की प्रतिक्रिया मे उसने समुद्र-लहर, तरखा, फर्स्टईयर, भूगोल, कक्षा, लखनऊ, क्रय, हजरतगंज, कॉफी हाउस, सिनेमा, सिख, अवज्ञा, खतरनाक और भाला कहा। जहाज से उसे समुद्र की याद आई—लहर और तरखे की। ये बातें भौगोलिक हैं। इस कारण उसे बी० ए० के भूगोल-कक्षा की याद आ गई। फर्स्टईयर की भी याद आई क्योंकि वह लखनऊ थौबर्न कॉलेज मे पढ़ाती थी। हजरतगंज मे वह चीजें खरीदती थी। वहाँ के कॉफी हाउस और सिनेमा का ध्यान आया। एक बार वह एक सिख से मिली थी जिसने उससे बुरा व्यवहार किया था।

वह भयभीत थी क्योंकि इनके पास भाला रहता है। हिमालय की प्रतिक्रिया मे उसने बर्फ, नदी, गंगा-यमुना, प्रयाग, त्रिवेणी, थीसिस, लिओन्स विद्यालय, सूचना नहीं आई, पत्र,कमरा, तैयार, मित्र चली गई, छोड़कर, फ्रान्स, स्विट्जरलैंड, पेरिस, चैनल पार करना, कॉलेज और अंग्रेजी कहा। हिमालय से उसे बर्फ, नदी, गंगा-यमुना और प्रयाग का ध्यान आया। उसे त्रिवेणी पर एक लेख लिखना था इससे उसने त्रिवेणी शब्द कहा। अपनी थीसिस के लिये वह लिओन्स विद्यालय जाना चाहती थी। इस संबंध मे उसे कोई पत्र न मिला था। इस कारण उसे चिंता थी। उसकी मौसी के यहाँ से पत्र आया था कि उसके लिये कमरा खाली है। तब उसे अपने मित्र की याद आ गई जो देश-पर्यटन पर थी। उसके पास यह पत्र आया था कि वह एडन, फ्रान्स, स्विट्जरलैंड, और पेरिस जायेगी। अभी वह अपनी अंग्रेजी की थीसिस के लिये ऑक्सफर्ड कॉलेज जा रही है।

रेडियो की प्रतिक्रिया मे उसने संगीत, ग्रामोफोन, परीक्षा-समय, मोजार्ट, फ्रान्स, अजायबघर, शिल्प-मूर्त्ति, कला, इटली, रोम, पोप, नेपल्स, मित्र, पुस्तक का मिलना, क्रोध करना कहा। रेडियो से संगोत और ग्रामोफोन का ध्यान आया जिसे उसकी मित्र ने बाहर जाने के पहले उसे दिया था। परीक्षा का समय था। उसको बजाने का उसे मौका न मिला। मोजार्ट का गाना उसे बहुत प्रिय था। तब उसे फ्रान्स का ध्यान आया कि वह वहाँ जाकर अजायबघर, शिल्प-मूर्त्ति देखेगी। यह भी कि वह नैपिल्स जायगी। उसे सैम माइकल पुस्तक को याद आई जिसे देने के लिये उसकी मित्र ने वायदा किया था। बीमार पड़ जाने के कारण वह न भेज सकी। इस कारण उसने यह पुस्तक पाने का स्वयं प्रयत्न किया। जब उसकी मित्र ने यह सुना वह बहुत नाराज हुई।

इसी प्रकार उसने और सब शब्दों की भी प्रतिक्रियाएँ दी जिनकी पृष्ठभूमि मे क्रमबद्ध इतिहास और कारण था।

२. पूर्ण निबद्ध संबंध प्रयोग

(कम्प्लीटली कन्स्ट्रेण्ड असोसियेशन एक्सपेरीमेंट)

समस्या—इस प्रयोग की समस्या यह पता लगाना है कि उत्तेजन शब्दों या प्रश्नों की ठीक प्रतिक्रियाएँ देने मे कितना समय लगता है जब एक शब्द या प्रश्न की एक ही प्रतिक्रिया सम्भव है।

सामग्री—दस-दस प्रश्नों के दो कार्ड, पेंसिल और स्टाप वाच।

विधि—इन्सट्रक्टर ने दस प्रश्न लिखे हुए एक कार्ड मुझे दिया और एक मेरी सहपाठिनी को। इन्सट्रक्टर ने प्रारम्भ करने के लिए कहा। मै प्रयोगकर्त्ता बनी और मेरी सहपाठिनी प्रयोगपात्र। मैंने प्रयोगपात्र से पहले प्रश्न का उत्तर देने के लिए कहा। जब उसने ठीक उत्तर दिया, मैंने उसे लिख लिया और उत्तर मिलने मे जो समय लगा उसे भी लिख लिया। मैंने दूसरा प्रश्न पूछा और उसका भी ठीक उत्तर और जो समय लगा दोनों लिख लिया। इस प्रकार मैंने सम्पूर्ण प्रश्नों को समाप्त किया और हरेक प्रश्न का उत्तर और समय लिखती गयी। अब मै प्रयोगपात्र बनी और मेरी सहपाठिनी प्रयोगकर्त्ता। मेरी ही तरह उसने भी मुझसे प्रश्नों को पूछा और प्रतिक्रियाएँ और समय वह लिखती गयी।

विवरण—जो प्रश्न मैंने प्रयोगपात्र से पूछा था और उत्तर मिलने मे जितना समय लगा था उसका विवरण निम्न भाँति रहा—

१. पचास पन्ने की कॉपी है; यदि उसमे से बारह पन्ने लिख लिये गये तो कितने पन्ने बचे?

   प्रतिक्रियाः अड़तीस—समय : चार सेकेन्ड।

२. दो आदमी खेत को चार दिन मे बोते हैं। एक आदमी को खेत बोने मे कितना समय लगेगा?

   प्रतिक्रिया : आठ दिन—समय : पाँच सेकेन्ड।

३. गोदान पुस्तक किसने लिखी है—जयशंकर प्रसाद, महादेवी वर्मा या प्रेमचन्द्र ?

प्रतिक्रिया : प्रेमचन्द्र—समय : एक सेकेन्ड।

४. सौ रु० का एक साल का ब्याज पाँच रुपया है। दो सौ रुपये का दो साल का ब्याज क्या होगा ?

प्रतिक्रिया : बीस रुपया—समय : ६ सेकेन्ड।

५. यदि पौने चार रुपया मे से दो आना घटाया तो क्या बचेगा ?

प्रतिक्रिया : तीन रुपया दस आना—समय : सात सेकेन्ड।

६. अमेरिका की राजधानी क्या है ?

प्रतिक्रिया : न्यूयार्क—समय : एक सेकेन्ड।

७. एक चूल्हा बनाने के लिए यदि तीन ईंटों की जरूरत पड़ी तो दो चूल्हा एक साथ बनाने के लिए कितने ईंटों की जरूरत पड़ेगी ?

प्रतिक्रिया : पाँच—समय : पाँच सेकेन्ड।

८. फाउन्टेनपेन के लिए हिन्दी शब्द क्या है ?

प्रतिक्रिया : निर्झरिणी—समय : एक सेकेन्ड।

९. हिन्दुस्तान मे गवर्नर जेनरल कौन रहा ?

प्रतिक्रिया : राजगोपालाचारी—समय : डेढ़ सेकेन्ड।

१०. एक रिक्शा एक घण्टे मे बारह मील जाता है तो वह पैंतालीस मिनट मे कितने मील जायगा ?

प्रतिक्रिया : नौ मील—समय : साढ़े तीन सेकेन्ड।

इस प्रकार दस प्रश्नों के उत्तर देने मे कुल पैंतीस सेकेन्ड लगे। इसका अर्थ रहा कि एक प्रश्न का उत्तर देने मे औसत समय साढ़े तीन सेकेन्ड लगा।

निष्कर्ष—मेरी सहपाठिनी की प्रतिक्रियाओं मे औसत ३·५ सेकेन्ड लगा। उसकी बुद्धि साधारण थी। इसी से वह प्रतिक्रियाएँ जल्दी देती रही।

३. ध्यान-विस्तार-प्रयोग

(स्पैन ऑफ अटेन्शन)

समस्या—इस प्रयोग की यह समस्या है कि ध्यान की एक प्रक्रिया मे कितने अक्षर या अन्य चिन्ह, जिनके आपस मे कोई सम्बन्ध नहीं है: आ जाते हैं ।

सामग्री—टैकिस्टोस्कोप, कई सादे कार्ड, पेंसिल और स्टाप वाच ।

विधि—मैने सादे कार्डों मे मे एक कार्ड पर दो अक्षर लिखे, एक पर तीन, एक पर चार, एक पर पाँच और एक पर छ अक्षरों को लिखा । ये अक्षर ऐसे थे जिनमे कोई सम्बन्ध नहीं था । फिर इन कार्डों को बारी-बारी से टैकिस्टोस्कोप यन्त्र के द्वारा प्रयोगपात्र को दिखलाया । प्रयोगपात्र को टैकिस्टोस्कोप के सामने बैठा दिया था । टैकिस्टोस्कोप एक ऐसा यन्त्र है जिसमे एक छोटी खिड़की होती है और वह बटन दबाने से खुलती है और बन्द होती है । खिड़की से कार्ड दिखलाया जाता है । मैने प्रयोगपात्र से कहा 'तैय्यार' और टैकिस्टोस्कोप मे कार्ड लगाकर बटन दबा दिया । खिड़की खुल गयी और प्रयोगपात्र ने अक्षर लिखे कार्ड को देख लिया । १/२ सेकेण्ड मे ही बटन दबा दिया और खिड़की बन्द हो गयी । मैने प्रयोगपात्र से यह प्रश्न किया कि उसने कार्ड मे क्या-क्या देखा है । प्रयोगपात्र ने ठीक-ठीक बतला दिया । अब मैने पहले ही की तरह उस कार्ड को लगाया जिस पर तीन अक्षर लिखे थे । प्रयोगपात्र ने देखते ही बतला दिया । फिर मैने उस कार्ड को लगाया जिस पर चार अक्षर लिखे थे । यह भी उसके ध्यान-क्षेत्र मे आ गया । पाँच अक्षर के बाद वह न पढ़ सकी । फिर मै प्रयोगपात्र बनी और वह प्रयोगकर्त्ता ।

विवरण—प्रयोगपात्र ने पहले कार्ड के अक्षरों को १/२ सेकेन्ड मे देख लिया । दूसरे, तीसरे, चौथे कार्ड के अक्षरों को भी उसने पढ़ लिया । इसके बाद वह नहीं पढ़ सकी ।

निष्कर्ष—परिणाम यह निकला कि मनुष्य एक बार मे पाँच से अधिक अक्षरों, बिन्दुओं या चिह्नों को नहीं ग्रहण कर सकता। हाँ, जब अक्षर सम्बन्धित रूप मे रहते हैं जिनसे शब्द बन जाते हैं, तब ध्यान-क्षेत्र मे अधिक आ सकते हैं।

४. स्मृति-विधि-प्रयोग

(मेमरी मेथड एक्सपेरीमेंट)

समस्या—इस प्रयोग की यह समस्या है कि समग्र और खंड-विधि मे कौन सी विधि स्थायी रूप से और कम समय मे स्मरण करने के लिये उत्तम है।

सामग्री—दो कविताएँ हरेक सोलह पंक्तियों की जिनमे प्रत्येक खण्ड चार पंक्तियों का हो। कविताओं मे शब्दों की संख्या बराबर हो और ढाँचा भी एक हो। समय जानने के लिये एक घड़ी।

विधि—मैंने प्रयोगपात्र को सोलह पंक्तियों की एक कविता याद करने के लिये दिया। उससे यह कहा कि वह पूरी कविता को समग्र विधि से याद करना प्रारंभ करे। पहले पूरी कविता एक साथ पढ़ डाले। और तबतक आवृत्ति करती रहे जब तक उसे याद न हो जाय। पुनरावृत्ति करने मे जब वह कोई शब्द या वाक्य भूले तो पुस्तक खोलकर देख ले। मैंने यह भी कहा कि एक बार आवृत्ति करने के बाद वह कागज पर एक निशान बना दे जिससे बाद मे यह गिना जा सके कि कविता याद करने के लिये उसे कितनी बार आवृत्ति करनी पड़ी। मैंने यह नोट किया कि उसे समग्र विधि से पूरी कविता याद करने मे कितना समय लगा।

दूसरे दिन दूसरी कविता उसे याद करने के लिये दिया और यह आदेश दिया कि वह अब इस कविता को खण्ड-विधि से याद करे। पहले वह कविता को कई खण्ड मे बाँट ले और तब एक-एक खण्ड की आवृत्ति तबतक करती रहे जब तक उसे वह खण्ड पूरी तरह याद न हो

जाय। उस खण्ड को याद करने मे उसे जितनी बार आवृत्ति करनी पड़े. उसे वह नोट कर ले। समय भी लिख ले। कविता का जब एक खंड याद हो गया तब दूसरा खंड लेने के लिये कहा। जब इस तरह पूरी कविता खंड़-खंड करके उसने याद कर लिया तब पूरी कविता एक साथ याद करने और सुनाने के लिये कहा।

विवरण—समग्र-विधि से याद करने मे उसे सोलह बार आवृत्ति करनी पड़ी और समय पन्द्रह मिनट लगा। खंड-विधि मे पहला खण्ड याद करने मे चार बार आवृत्ति करनी पड़ी और दो मिनट का समय लगा। दूसरे खण्ड के लिए पाँच आवृत्ति करनी पड़ी और तीन मिनट का समय लगा। तीसरे खण्ड के लिए पाँच आवृत्ति करनी पड़ी और दो मिनट का समय लगा। चौथे खण्ड के लिए पाँच आवृत्ति करनी पड़ी और तोन मिनट का समय लगा। पूरी कविता की आवृत्ति नौ बार की और दस मिनट का समय लगा।

निष्कर्ष—दोनों विधि की तुलना करने पर यह निष्कर्ष निकला कि खंड-विधि से याद करने मे अधिक समय लगता है। भले ही प्रयोग-पात्र ने सब खडो को अलग-अलग जल्दी याद कर लिया हो; परन्तु सब खंडो को एक साथ याद करने के लिए आवृत्ति करने मे अधिक समय लग गया। विशेषकर जब कविता छोटी होती है तब समग्र-विधि से याद करना सरल होता है और समय भी कम लगता है। सम्भव है जब कविता बड़ी हो तब समग्र-विधि से खण्ड-विधि अच्छी ठहरे।

उपरोक्त प्रयोग के लिये निम्न कविताएँ दी गयीं :

सरिते! क्यों अविरल गति से
प्रतिपल बहती रहती हो!
क्षण-भर के लिए कहीं भी
विश्राम नहीं क्यों करती हो॥
तुम सीधी कभी न चलती
रहती हो क्यों इठलाती?

है बात कौन-सी ऐसी
जिससे फूली न समाती ?
उर उमड़ रहा क्यों ऐसा
ले-ले उत्ताल तरंगें ?
क्यों आज हृदय मे उठती
हैं ऐसी उच्च उमंगें ॥
हम खड़े तीर पर कब से
तुम तनिक नहीं रुकती हो।
कुछ बात पूछते हैं हम
तुम कल कल हँस देती हो ॥

दूसरी कविता—

करते रहते क्यों झिलमिल
नभ मे ये सुन्दर तारे ?
खेला करते क्या हिलमिल
ये आँखमिचौनी सारे ?
क्या किसी देव-बाला की
हैं फैल गईं ये मणियाँ ?
या बिखर गईं माला की
उसकी ये सुन्दर लड़ियाँ ?
क्या निशा-सुन्दरी की ये
साड़ी मे जड़े सितारे ?
चम-चम-चम-चम करते ये
उज्ज्वल, चमकीले न्यारे ?
क्या विश्व-वृक्ष की डाली
पर हँसती कोमल कलियाँ ?

या फैला दी उस माली
ने सुन्दर सुमनावलियाँ ?

५. दर्पण-लेखन-प्रयोग

(मिरर ड्रॉइङ्ग)

समस्या—इस प्रयोग की समस्या यह है कि प्रयास और भूल की विधि से मनुष्य किस प्रकार हाथ और आँख मे नयी सहकारिता स्थापित कर लेता है।

सामग्री—दर्पण, सितारे का नकशा, ट्रेसिंग पेपर, ड्रॉइंग पेंसिल, स्टॉप वाच ।

विधि—मै प्रयोगकर्त्ता और मेरी सहपाठिनी प्रयोगपात्र बनी। प्रयोग प्रारम्भ करने के पहले मैंने सितारे के नकशे पर ट्रेसिंग पेपर लगाया और दर्पण और आड़ को इस प्रकार रखा कि सितारे का नकशा सीधे न दिखलायी पड़े। प्रयोगपात्र केवल नक्शे का प्रतिबिम्ब देख पावे। तब मैंने प्रयोगपात्र को ऐसा करने मे सहायता दी कि वह पेंसिल बायें हाथ मे लेकर नक्शे के केन्द्र मे रखे जिस जगह से उसे नकशा ट्रेस करना प्रारम्भ करना था। इस जगह पर क्रॉस का चिह्न बना दिया गया था। इसके बाद मैंने प्रयोगपात्र से उसी जगह से नक्शे को वैसे ही ट्रेस करना प्रारम्भ करने के लिए कहा जैसे कि नक्शे को वह दर्पण मे देखे। यह भी कहा कि जिस स्थान से प्रारम्भ किया है वहीं आकर पेंसिल रोक दे। जब उसने नकशा बनाना शुरू किया, मैंने घड़ी चला दी और एक चक्कर मे उसे जितना समय लगा उसे लिख लिया। प्रयोगपात्र को हाथ चलाने मे कठिनाई पड़ी और एक बार तो उसने हाथ उठा भी लिया। कुछ समय विश्राम करने के पश्चात् प्रयोग पुनः प्रारम्भ किया गया। इस बार दाहिने हाथ से काम करने के लिए मैंने

प्रयोगपात्र से कहा। उसने पेंसिल उठाने की एक भूल की। दाहिने हाथ से भी नकशा बनाने मे उसे कठिनाई हुई।

तदुपरान्त मै प्रयोगपात्र बनी और मेरी सहपाठिनी प्रयोगकर्त्ता। जिस प्रकार मैंने उसपर प्रयोग किया था उसी प्रकार उसने मुझ पर किया। इसके बाद मै पुनः प्रयोगकर्त्ता बनी और मेरी सहपाठिनी प्रयोगपात्र।

विवरण—पहली बार मेरे प्रयोगपात्र को नकशा बनाने मे आठ मिनट दस सेकेण्ड लगा; दूसरी बार छ मिनट; तीसरी बार चार मिनट अड़तीस सेकेण्ड; चौथी बार उसे तीन मिनट सैंतीस सेकेण्ड लगा; पाँचवीं बार मे उसे तीन मिनट सोलह सेकेण्ड लगा और छठँवीं बार मे तीन मिनट और छः सेकेण्ड।

हाथ	प्रयास	समय	भूलें
बायाँ	१	८ मि० १० से०	१८५
दाहिना	२	६ मि०	१५०
दाहिना	३	४ मि० ३८ से०	१४२
दाहिना	४	३ मि० ३७ से०	८६
दाहिना	५	३ मि० १६ से०	७३
बायाँ	६	३ मि० ६ से०	८५

निष्कर्ष—कई बार प्रयास करने के बाद मेरे प्रयोगपात्र का हाथ ठीक दिशा मे चलने लगा। भूलें कम होने लगीं और समय भी कम लगा। इससे मैंने यह निष्कर्ष निकाला कि कार्य कैसा भी मुश्किल हो, अभ्यास से सरल हो जाता है और कम समय मे कम भूलें कर के पूरा किया जा सकता है। एक बात यह भी मार्के की है कि बाँयें और दाहिने हाथ से काम करने मे कोई भेद नहीं होता।

६. स्थानापन्न-पूर्त्ति-प्रयोग

(सबस्टिट्युशन मेथड)

समस्या—इस प्रयोग द्वारा यह जानने का प्रयत्न करना है कि सीखने की गति क्या होती है।

सामग्री—कागज, पेन्सिल, स्टॉप वाच।

विधि—मुझे कुछ अक्षरों की एक सूची स्थानापन्न पूर्त्ति के लिये दी गयी। प्रयोगकर्त्ता ने ज्योंही 'तैय्यार' कहा मै सजग हो गयी। जब उसने 'प्रारंभ' कहा, मैने हरेक अक्षर के नीचे उसी अंक को रखना शुरू किया जो अंक उस अक्षर के नीचे पहली पक्ति मे लिखा था। तीस सेकेन्ड के बाद प्रयोगकर्त्ता ने मुझसे 'रुक जाओ' कहा। जहाँ तक लिख चुकी थी वहाँ मैने टेढ़ी लाइन लगा दी। इसके बाद तीस सेकेण्ड तक विश्राम किया और फिर, जब प्रयोगकर्त्ता ने प्रारम्भ करने के लिये कहा, मैने उसी तरह अंकों को लिखना प्रारम्भ किया। इस प्रकार ग्यारह बार तक मै लिखती और विश्राम करती गयी।

विवरण—कार्य की गति नीचे लिखे प्रकार रही :

प्रयास	स्थानापन्न पूर्त्ति की संख्या	भूलें
१	१२	×
२	१४	×
३	१४	×
४	१५	×
५	१५	×
६	२१	×
७	२५	×
८	२०	×
९	२४	×
१०	२३	×
११	२५	×

निष्कर्ष—इससे यह स्पष्ट होता है कि स्थानापन्न पूर्त्ति कम से अधिक की ओर अधिक से कम की ओर होती है।

पहले प्रयास मे मै केवल १२ स्थानापन्न पूर्त्तियाँ कर सकी। एक दो बार प्रयास करने के बाद गति बढ़ी। पाँच बार प्रयास करने के बाद तेजी से गति बढ़ी। सात बार प्रयास करने के बाद थकान के कारण गति कम होने लगी। अब कार्य समाप्त है इससे प्रेरणा मिलने के कारण अंतिम प्रयास मे अधिक स्थानापन्न पूर्त्तियाँ कर सकी।

उपरोक्त प्रयोग के लिये अक्षरों को सूची इस प्रकार रही:

प ड य ज ल ह म र च क ग त

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२

र त म ड क ल प य ह ग क च | त ज ल ड प र क

८ १२ ७ २ १० ५ १ ३ ६ ११ १० ९ | १२ ४ ५ २ १ ८ १०

ह म च त ल ज प | क र ग य त ह क ज ड र ग त

६ ७ ९ १२ ५ ४ १ | १० ८ ११ ३ १२ ६ १० ४ २ ८ ११ १२

म क | प ह क ल त ड म र क ह च ल ड य र | ल प

७ १० | १ ६ १० ५ १२ २ ७ ८ १० ६ ९ ५ २ ३ ८ | ५ १

ह क ड र प ल प ग त ज च ड प | ज ह य क र म

६ १० २ ८ १ ५ १ ११ १२ ४ ९ २ १ | ४ ६ ३ १० ८ ७

त ग ड प य ग ज ल म र ज क प ह य | ल म र क

१२ ११ २ १ ३ ११ ४ ५ ७ ८ ४ १० १ ६ ३ | ५ ७ ८ १०

प ल त ड क ह य प क ज प त र प ह ड क म त

१ ५ १२ २ १० ६ ३ १ १० ४ १ १२ ८ १ ६ २ १० ७ १२

य ल | क प ह ड ज र प ह ग म त ह य प ल क र

३ ५ | १० १ ६ २ ४ ८ १ ६ ११ ७ १२ ६ ३ १ ५ १० ८

ज ग ड | क म ल ड य र प ह य त म क ग ड च
४ ११ २ | १० ७ ५ २ ३ ८ १ ६ ३ १२ ७ १० ११ २ ९

क प र त ह म ल ग त | प म ह र ल ग ड ज क
१० १ ८ १२ ६ ७ ५ ११ १२ | १ ७ ६ ८ ५ ११ २ ४ १०

म ल प क त य र ज ह क ह र प ज | य म ग ड क
७ ५ १ १० १२ ३ ८ ४ ६ १० ६ ८ १ ४ | ३ ७ ११ २ १०

र ह ज ग प र त ज म र ल ड ग प म च ह य क म | र
८ ६ ४ ११ १ ८ १२ ४ ७ ८ ५ २ ११ १ ७ ९ ६ ३ १० ७ | ८

उक्त प्रयोगों के अतिरिक्त और भी अनेक प्रयोग हैं जिनका महत्त्व शिक्षा-मनोविज्ञान की दृष्टि से विशेष रूप से है।

शब्दकोष

अज्ञात मन	Unconscious
अबाध मनः आयोजन	Free-Association
अभिरुचि	Aptitude
अनुकरण	Imitation
अन्तर्दृष्टि	Insight
अल्पबुद्धि	Moron
अनुन्नत	Backward
अतिशय शक्ति-सिद्धान्त	Theory of Surplus Energy
अभ्यास-नियम	Law of Exercise
आत्मप्रतिपादन-वृत्ति	Instinct of Self Assertion
आत्महीनता-वृत्ति	Instinct of Self Abasement
आत्म स्थायीभाव	Self Regarding Sentiment
आत्मप्रतिपादन-ग्रंथि	Self Assertive Complex
आभ्यन्तरिक	Subjective
आत्मीयकरण	Assimilation
इच्छा	Wish
उत्तेजन-प्रतिक्रिया	Stimulus-Response
उत्कृष्ट बालक	Gifted child
ऐन्द्रिय वासना तृप्ति-सिद्धान्त	Pleasure Principle

ऐच्छिक ध्यान	Voluntary Attention
कालात्मक स्थायीभाव	Aesthetic Sentiment
काम-ग्रंथि	Erotic Complex
कल्पना	Imagination
क्रम विकास-सिद्धान्त	Periodic Development
क्रियावाही तंतु	Motor Nerve
किशोरावस्था	Adoloscence
कोष्ठ	Cells
क्रियात्मक	Conative
—परीक्षा	Performance Test
खंड-विधि	Part Method
खेल	Play
ग्रहण	Retention
घ्राण-संवेदन	Smell Sensation
चित्र-कथानक-परीक्षा	Thematic Apperception Test
चेतनावाद	Consciousness
जिज्ञासा-वृत्ति	Instinct of Curiosity
जातीय विशेषता	Racial characteristic
जड़	Idiot
तत्परता-नियम	Law of Readiness
दृश्य-संवेदन	Visual Sensation
—प्रत्यक्षीकरण	Visual Perception
दमन	Repression
ध्यान	Attention
—विस्तार	Span of Attention

निरीक्षण	Observation
नाड़ी-मंडल	Nervous System
निर्देशन	Suggestion
नैतिक स्थायीभाव	Moral Sentiment
निदान	Diagnosis
पलायन-वृत्ति	Instinct of Escape
पहचानना	Recognition
प्रत्यक्षीकरण	Perception
पुनःशिक्षा	Re-education
प्रयोग	Experiment
प्रायोगिक मनोविज्ञान	Experimental-Psychology
प्रयास और भूल	Trial & Error
परिमार्जन	Sublimation
पुनरावृत्ति	Recall
बुद्धि	Intelligence
—मात्रा	Intelligence Quotient
बोधात्मक	Cognitive
बालापराधी	Delinquency
बौद्धिक विकास	Intellectual development
बौद्धिक स्थायीभाव	Intellectual Sentiment
बाह्य वस्तु-प्रेम	Allo-erotic stage
भावना-ग्रन्थि	Complexes
भावात्मक	Emotive
—प्रतिमा	Archetypes
भ्रम	Illusion

भ्रान्ति	Hallucination
मनोविश्लेषण	Psychoanalysis
मानसिक विकास	Mental development
—ह्रास	Mental Regression
—विच्छेद	Mental Dissociation
—प्रतिमा	Mental Image
—अवस्था	Mental condition
—दुर्बलता	Neurosis
मस्तिष्क स्तब्धता	Cerebral Congestion
मसी-अंक-परीक्षा	Ink Blot Test
मन संबंधी परीक्षाएँ	Mental Test
मूढ़	Imbecile
मार्गान्तीकरण	Redirection
मातृ-वृत्ति	Parental Instinct
मुखाकृति विज्ञान	Physiogonomy
यथार्थवाद	Realism
रुचि	Interest
रस-संवेदन	Taste Sensation
रेखा	Impression
वृत्ति	Instinct
व्यवहारवाद	Behaviourism
व्यावहारिक मनोविज्ञान	Applied Psychology
वैपरीत्य-नियम	Law of Contrast
विजातीय द्रव्य	Toxic Substance
विश्लेषण	Analysis
विलयन	Inhibition

वंशानुक्रम	Heredity
वातावरण	Environment
व्यक्तित्व	Personality
विद्रोह-वृत्ति	Instinct of Combat
विक्षेप	Insanity
वैयक्तिक भेद	Individual Difference
समग्र-विधि	Whole Method
संवेदन, संवेदना	Sensation
सम्मोहन	Hypnotism
संतुलन, सामंजस्य	Adjustment
संश्लेषण	Synthesis
समूह-वृत्ति	Group Instinct
संवेग	Emotion
समविकास सिद्धान्त	Concomitant development
सहज क्रिया	Reflex
स्थायीभाव	Sentiment
सामाजिक स्थायीभाव	Social Sentiment
स्वतः काम पूर्णावस्था	Auto-erotic Stage
साहचर्य्य-नियम	Law of Contiguity
स्वकाम पूर्णावस्था	Narcisstic Stage
समाज ग्रन्थि	Social Complex
सुखानुभव-नियम	Law of Effect
सीखने का पठार	Plateau of Learning
सामूहिक अज्ञात मन	Collective Unconscious
सादृश्य-नियम	Law of Similarity

संबंध-नियम	Law of Association
हीनत्व-ग्रंथि	Inferiority Complex
शरीर-विज्ञान	Physiology
शैशवावस्था	Childhood
श्रव्य-संवेदन	Auditory Sensation
ज्ञानार्जन का परत्र उपयोग	Transfer of Learning
ज्ञानवाही तंतु	Sensory nerve
ज्ञानार्जन क्षमता परीक्षा	Achievement Test
